१. बन्दर की पकड़

एक बंदर घरों की अट्टालिकाओं पर इधर से उधर छलांगें लगा रहा था। छलांगें लगाते–लगाते उसने एक मकान की छत पर छोटे मुंह वाली मटकी में चने (भूंगड़े) पड़े हुए देखे, जिन्हें देखकर वह ललचा गया। उन्हें पाने के लिए बन्दर ने मटकी में हाथ डाला और मुट्ठी भर ली। लेकिन जब वह मुट्ठी बाहर निकालने की कोशिश करता है तो वह निकल ही नहीं पाती है, तब वह चीं–चीं करता है।

जब तक हाथ मटकी में नहीं डाला था, मुट्ठी नहीं भरी थी। तब सुखी था, स्वतंत्र था। कोई परेशानी नहीं थी। लेकिन ज्यों ही मुट्ठी भरी तो उसे नहीं निकाल पाने के कारण दुःखी हो गया, परतंत्र हो गया, मानसिक तनाव से ग्रस्त हो गया।

बंधुओ! वह तो विवेक–विकल बन्दर था, लेकिन आज के अधिकांश मानव क्या कर रहे हैं? आज धन की पकड़, परिवार की पकड़, न मालूम कितनी अधिक बढ़ती जा रही है। जब तक यह पकड़ रहेगी, तब तक कोई भी मानव सुखी नहीं हो सकता।

बंदर की पकड़ ने ही उसे दुःखी बना दिया तो आज के पुरुषों ने न मालूम कितनी पकड़ कर रखी है।

सुखी बनने के लिए भौतिकता की पकड़ छोड़नी होगी।

२. जैन और जैनत्व

आज के बुद्धिवादी वर्ग में यह आम चर्चा बन गई है कि जैन धर्म के सिद्धांत इतने वैज्ञानिक होते हुए भी उसके अनुयायी बहुत कम हैं, यह कैसे?

इस बात का स्पष्टीकरण मैं स्वर्गीय गुरुदेव गणेशाचार्य के साथ बिनोबा भावे की चर्चा से स्पष्ट कर देना चाहता हूं।

आचार्यश्री गणेशीलालजी म. सा. के साथ चर्चा करते हुए विनोबा भावे ने बतलाया–'आचार्यश्री! आप यह सोचते होंगे कि जैन धर्मानुयायी बहुत कम हैं। हां, नाममात्र के जैनानुयायी कम हो सकते हैं किन्तु जैन–सिद्धांत–जैनत्व पूरे विश्व में दूध में मिश्री की तरह फैलता जा रहा है। जिस प्रकार दूध में मिश्री घुलकर उसे मीठा बना देती है, तब मिश्री का स्वतंत्र अस्तित्व दिखलाई नहीं देता। ठीक इसी प्रकार जैनत्व, जैन–धर्म के सिद्धांत–अहिंसा, सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि इतने ही अधिक फैलते जा रहे हैं।

आज विश्व के प्रत्येक राष्ट्र के मूलभूत नियम इन्हीं सिद्धांतों पर बने हैं। हमें प्रत्यक्ष रूप से उन सिद्धांतों की स्थिति परिलक्षित नहीं हो रही है। किन्तु यदि अहिंसा, सत्य आदि को राष्ट्रीय नियमों से निकाल दिया जाए तो कोई भी राष्ट्र एक क्षण के लिए भी व्यवस्थित नहीं चल सकता।

अतः स्पष्ट है कि जैनत्व की दृष्टि से तो जैन दर्शन विश्व–व्यापक है। हां, जैनानुयायी अल्प परिलक्षित हो सकते हैं।

३. संयोग-उपयोग

एक व्यक्ति के पास भोजन की सारी सामग्री उपलब्ध थी। आटा, दाल, घी–सब पर्याप्त मात्रा में थे। उसे बहुत तेज भूख लग रही थी। वह जोर–जोर से चिल्लाने लगा–मुझे भूख लग रही है, मुझे भूख लग रही है।

उसकी यह स्थिति देखकर उसके एक सुज्ञ मित्र ने कहा––अरे, तुम चिल्ला क्यों रहे हो? यदि तुम भूखे हो तो तुम्हारे पास भोजन की सामग्री पड़ी हुई है। जब सारी वस्तुओं का संयोग है तो इनका उपयोग क्यों नहीं करते?

लेकिन वह व्यक्ति बोला–मेरे पास संयोग है, किन्तु मुझे इसका उपयोग करना नहीं आता।

–इसीलिए तुम भूखे मर रहे हो, मित्र ने कहा।

क्षुधा–तृप्ति के लिए संयोग के साथ उपयोग भी होना चाहिए। वर्तमान की स्थिति भी कुछ ऐसी ही बन रही है। आज प्राणी को श्रेष्ठतम वस्तु मानव–तन प्राप्त हो गया है। आवश्यकता है, इस संयोग का सही दिशा में उपयोग करने की।

केवल सुख के लिए चिल्लाने मात्र से सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

४. पानी सभी का है

सरिता में प्रवाहित शीतल नीर, किसी व्यक्तिविशेष से ही अपना संबंध स्थापित नहीं करता।

ऐसा नहीं होता कि पानी सम्राट के पीने पर तो उसकी प्यास शांत कर दे और रंक के पीने पर उसकी प्यास शांत न करे। श्रीमंत पीए तो उसकी प्यास बुझ जाए और निर्धन की न बुझे। पानी में ऐसा कोई पक्षपात नहीं होता। उसको

पीने वाला कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, मानव हो या पशु, रंक हो या राजा, धनी हो या निर्धन, वह सबकी प्यास तृप्त करता है।

ठीक इसी प्रकार अर्हंत–सिद्धांत अहिंसा आदि सार्वजनीन, सार्वभौमिक हैं। ये सिद्धांत किसी व्यक्तिविशेष या वर्गविशेष से आबद्ध नही हैं। कोई भी व्यक्ति इन्हें अपना सकता है। जो भी व्यक्ति इन सिद्धांतों को व्यवस्थित रूप से अपनाता है, निश्चित रूप से उसे जीवन में शीतल, सुखद अनुभूति होने लगती है।

५. आधुनिक शिक्षा

आधुनिक युग में शिक्षा का बहुत प्रचार–प्रसार हो रहा है। सरकार भी अपनी संपत्ति का बहुत–कुछ व्यय इस दिशा में कर रही है।

इस आधनिक शिक्षा को प्राप्त करके कई युवक ग्रेज्युएट होते जा रहे हैं और बड़े–बड़े पदों पर कार्य कर रहे हैं।

जिस प्रकार बड़े–बड़े पदों पर कार्य करने से पहले शिक्षण–प्रशिक्षण लेते हैं, वर्षों तक अध्ययन करने के बाद ग्रज्युएट बन पाते हैं।

तो क्या मैं आपसे पूछूँ कि जब आपने संतति–प्रजनन प्रारम्भ किया, उससे पूर्व पिता के कर्तव्यों का अध्ययन किया? महिला ने माता बनने से पूर्व अपनी संतति के प्रति कर्तव्यों का अध्ययन किया? बतलाइये, क्या लिया है ऐसा कोई प्रशिक्षण?

अरे ! आप सब मौन क्यों हो गए? बस, भूल मूलतः यहीं से हो रही है। अपने कर्तव्यों का बोध प्राप्त करने से पहले ही किया जाने वाला सम्बन्धित कार्य हानिकारक होता है। आज स्थिति यही बनती जा रही है। माता–पिता को ही जब अपनी संतति के प्रति क्या कर्तव्य होते हैं, इसका भान नहीं है तो फिर उनकी संतति को अपने माता–पिता के प्रति क्या कर्तव्य होने चाहिये, इसका बोध कैसे हो पाएगा?

देवकी महारानी को पुत्रों के प्रति माता का क्या कर्तव्य होता है, इस बात का पूर्ण विवेक था। इसी का परिणाम आया कि महारानी को दुःखित देखते ही श्रीकृष्ण का हृदय भी दुःखित हुआ और उन्होंने हर कीमत पर माता के दुःख दूर करने का निर्णय किया।

श्रवणकुमार को अपने कर्तव्यों का बोध था। इसी का परिणाम था कि उसने अपने माता–पिता को कावड़ में बिठा कर भी यात्रा करवाई।

माता मदालसा ने अपने पुत्रों के प्रति अपना कर्तव्य निभाया था। परिणामस्वरूप महारानी मदालसा की इच्छानुसार सभी पुत्र यशस्वी बने थे।

अतः पारिवारिक जीवन सुखमय बनाने के लिए जनक–जननी, पुत्र–पुत्रियों को अपना–अपना कर्तव्यबोध करना अत्यन्त आवश्यक है।

६. मनुष्य हो या पशु

आज मनुष्य लड़ क्यों रहा है? एक दृष्टि से देखा जाए तो आज अधिकांश मनुष्यों में सही ज्ञान नहीं है। मनुष्य–जन्म तो पा लिया, परन्तु मनुष्य क्यों है, क्या है, इसका ज्ञान न होने से अपने ही भाइयों से टकरा रहा है, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को शत्रु समझ रहा है––यह मेरा प्रतिपक्षी है, दुश्मन है। जैसे एक व्यक्ति दूसरे को दुश्मन समझता है, वैसे ही दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को समझता है। मनुष्य की कलुषित मानसिक वृत्ति ही उसकी दुश्मन है। ऐसा करते–करते मनुष्य शांति से रहना भूल जाता है। यहां तक कि परिवार में ही अशांतिमय द्वंद्व पैदा हो जाता है और लोग भेद–अभेद की दृष्टि को छोड़कर लड़ने लग जाते हैं। इस तरह लड़ाई–झगड़े में यह जिन्दगी कुत्ते–बिल्ली की तरह व्यर्थ ही चली जाती है। आप शांति से चिंतन कीजिए, यह जिन्दगी कुत्ते–बिल्ली की तरह बिताने को नहीं मिली है। यदि छोटी–छोटी बातों के लिए मन में गांठ बांधकर चलें और व्यक्ति, परिवार, समाज के हित को ध्यान में नहीं रखें तो क्या यह भी कोई जीवन है? यह वृत्ति तो पशुओं में भी नहीं होती। वे भी टोली बनाकर चलते हैं। उनमें द्वेष और ईर्ष्या की आग नहीं सुलगती। उनमें प्रायः प्रेम और स्नेह रहता है। एक ही टोले के पशुओं में कितनी हमदर्दी है, उसकी कल्पना जंगली पशुओं को देखकर करें तो आप आश्चर्य में पड़ जाएंगे।

७. भाग्य और पुरुषार्थ

अधिकांश मानवों की यह कल्पना होती है कि मैं कुछ नहीं कर सकता, होता वही है जो विधाता ने लेख लिख दिया है।

इन विचारों के कारण मानव की नव–नवोन्मेषिनी प्रतिभा कुंठित होती चली जाती है। अभिनव आविष्कारों के द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। उन्नति के पथ

पर एक बहुत बड़ी चट्टान आ खड़ी होती है।

भोजन की सारी सामग्री उपलब्ध है लेकिन भोजन करने वाला कवल को मुंह में लेकर दांतों से चबाकर जब तक पेट में नहीं उतारता है, तब तक उसकी भूख शांत नहीं हो सकती। इतना पुरुषार्थ उसे करना ही होता है। जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषार्थ की अनिवार्य आवश्यकता होती है। जीवन रूपी रथ के दो पहिए हैं। एक तरफ अपना कर्म (भाग्य) है तो दूसरी ओर पुरुषार्थ। इन दोनों के संयोग से ही जीवन–रथ निश्चित दिशा की ओर गतिमान हो सकता है।

केवल भाग्याश्रित मानव कभी भी उन्नति के चरम छोर को नहीं छू सकता। उन्नति के पथ पर बढ़ने के लिए इन नैराश्यपूर्ण विचारों से हटकर, सबल पुरुषार्थ के साथ आगे बढ़िये, तब अवश्य ही सुख का अतुल खजाना प्राप्त होगा।

८. घड़ी का समभाव

यह घड़ी किसी का ध्यान नहीं रखती। कौन बोल रहा है, कौन नहीं बोल रहा है? कौन क्या कर रहा है और कौन क्या नहीं कर रहा है? वह तो अपनी गति से निराबाध चलती रहती है।

इस प्रकार इस घड़ी में समभाव की स्थिति परिलक्षित होती है। यह मानवों के क्रिया–कलापों से निरपेक्ष हो अपने ही लक्ष्य की ओर गतिशील रहती है। ठीक इसी प्रकार सभी मानवों में समभाव की स्थिति आ जाए तो जीवन की गति निरंतर बढ़ती रहेगी।

९. वीतराग वाणी

आकाश से बरसने वाला पानी किसी व्यक्तिविशेष का नहीं होता। वह ऊंचे–नीचे सभी स्थलों पर समभाव के साथ बरसता है।

ठीक इसी प्रकार वीतराग वाणी भी किसी व्यक्तिविशेष या सम्प्रदायविशेष से आबद्ध नहीं है, वरन् सभी के लिए है। पतित–पावनी प्रभु–वाणी का वर्षण सभी के लिए समान रूप से होता है। ग्रहण करने वालों की भिन्नता के कारण ही प्रभु–वाणी की परिणति में भिन्नता आती है।

मेघ–पानी में, जो स्वच्छता–निर्मलता होती है उससे भी विलक्षण प्रकार की स्वच्छता–निर्मलता वीतराग–वाणी में होती है।

१०. उत्तम व्यक्ति

उत्तम व्यक्ति वही होता है, जिसके आचार–विचार और उच्चार शुद्ध हों। प्रभु महावीर की दृष्टि में जन्मना जाति का विशेष महत्त्व नहीं रहा है। प्रभु ने कर्मणा दृष्टि से ही उच्चता–निम्नता का वर्गीकरण किया है।

जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु ने बतलाया है–

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ
कम्मुणा वइसो होई, कम्मुणा होई सुद्दो

कर्म–आचरण से ही मानव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कोटि में आते हैं। इसीलिए प्रभु महावीर के धर्मशासन में अग्निभूति जैसे महान क्रियाकाण्डी ब्राह्मण, मेघकुमार आदि क्षात्र तेजयुक्त क्षत्रिय, धन्ना सेठ जैसे ऋद्धि–समृद्धिसम्पन्न वणिक और हरिकेशी जैसे हरिजन भी सम्मिलित थे। अर्थात् सभी वर्ग के पुरुषों ने साधुत्व का जीवन स्वीकार किया था।

११. क्या कहा - वह करो

महापुरुषों ने क्या किया, उसे हमें नहीं दुहराना है, किन्तु महापुरुषों ने क्या कहा है, उस ओर ध्यान देना है।

पिता अनेक दुःखों की अनुभूति के बाद जो सत्य–तथ्य पाता है, वही पुत्र को बताता है। लेकिन पुत्र उस सत्य–तथ्य को स्वीकार न कर पितृ–अनुसरण करता है तो वह भी पिता के आदिमकालीन दुःखद जीवन में चला जाता है। ऐसा पुत्र कभी भी सुखी नहीं बन सकता।

लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अनुभूतिपूर्वक जो बात महापुरुषों ने कही है, सच्चे भक्त को उसी का अनुसरण करना चाहिए।

वैज्ञानिकों ने क्या अनुसंधान किया है, आप उस ओर नहीं देखते, किन्तु उन्होंने जो अविष्कार किया है उसका उपयोग करते हैं।

वैसे ही अध्यात्म जीवन में अध्यात्म के वैज्ञानिकों ने कैसा अनुसंधान किया है, उस ओर न जाकर उन्होंने जो आविष्कार किया है उसे अपनाना ही अभीष्ट है।

१२. पतितोद्धार

धर्मपाल समाज–रचना का मर्यादित काम करते हुए मैंने कभी भी यह नहीं सोचा था कि इससे मेरा कोई नाम हो। मेरा तो मुख्य लक्ष्य यही था और है कि जब प्रभु महावीर के सान्निध्य में हरिकेशी जैसे हरिजन का भी उद्धार हो सकता है तो इन पतित कहलाने वाले भाइयों का उद्धार भी क्यों नहीं हो सकता है? मानवता के नाते मैं उनके पास पहुंचा और उन्हें प्रभु महावीर की देशना का पान कराया।

लोगों में चामत्कारिक परिवर्तन हुआ। हजारों की जनसंख्या में लोग व्यसनमुक्त हो, मानवता के गुणों से भूषित होने लगे।

अगर आप सभी प्रभु महावीर के सही मायने में अनुयायी हैं तो आप भी जन्मना जाति–वर्ग से हटकर कर्मणा सिद्धांत को अपनाने का प्रयास करें। भाई–भाई से प्रेम करना सीखें और मानवता का भव्य प्रसंग उपस्थित करें।

१३. चौराहा

नगर के चौराहे पर खड़ा व्यक्ति जिधर जाना चाहे, उसी रास्ते से जा सकता है। उसके लिए किसी प्रकार का अवरोध नहीं आता। ठीक इसी प्रकार आत्मा के लिए भी मानव जीवन एक चौराहा है। जिस चौराहे से वह चार गति–नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव किसी में भी जा सकता है। यही नहीं, सर्व बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर वह मोक्ष में भी जा सकता है।

आप सभी ऐसे ही चौराहे पर खड़े हैं। जिधर जाना चाहें, उधर जा सकते हैं। अभी अवसर आपके हाथ में है। आप अपने अशुद्ध आचरण से निम्न गति में भी जा सकते हैं। आजमाइये अपने पुरुषार्थ को और शुद्धाचरण के पथ पर आगे बढ़िए।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं,
पुनरपि जननी जठरे शयनं।

अर्थात् बार–बार जन्म लेना, बार–बार मरना और बार–बार माता के गर्भ में आना, आखिर क्यों हो रहा है? जिस कार्य को करना हम नहीं चाहते उसी कार्य को विवश हो पुनः–पुनः क्यों करना पड़ रहा है? आखिर क्या कारण है इसका? जरा विचार करिये अपने अन्तर्मन में, हम चाहते हैं कुछ और ही और हमारा आचरण होता है किसी और ही प्रकार का। जन्म–मरण, जननी, जठर

शयन से मुक्ति पाने के लिए तदनुरूप पुरुषार्थ करना होगा। जिस दिन हम सत्पुरुषार्थशील बन जायेंगे उस दिन निश्चित रूप से इस पुनः–पुनः के आने वाले (संसार) चक्कर से हटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे।

१४. धर्म : आत्मा का मौलिक स्वरूप

धर्म का स्वरूप आत्मा के मौलिक स्वरूप से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार शीतलता पानी का मौलिक गुण है और वह पानी से भिन्न नहीं है। अग्नि के संयोग से कुछ समय के लिए उष्णता आ भी जाए पानी में, मगर संयोग हटते ही पुनः शीतलता भी आ जाएगी।

अग्नि के संयोगवत् ही मानव जीवन में कषाय का संयोग होता है। परिणामस्वरूप आत्मा का मौलिक गुण धर्ममय होते हुए भी वैकारिक एवं वैभाविक बन जाता है।

धर्म के मौलिक स्वरूप को आत्म–उजागर करने के लिए काषायिक भावों को हटाना होगा। जिस दिन कषाय की वैभाविक परत हट जायेगी उस दिन आत्मा का मौलिक स्वरूप (गुण) उजागर हो जाएगा।

१५. भंग से विनाश

भंग भी एक ऐसा विकृत तत्त्व है, जो शरीर के भीतर जाने के बाद शरीर को उन्मत्त (बेभान) बना देता है। यह उन्मत्तता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह अपने–पराये का भेद भी भूल जाता है।

गंगापुर की एक बहिन को जबरदस्ती फोर्स करके किसी ने भंग पिला दी। घर पहुंचते–पहुंचते नशा चढ़ा उसे। बेभान हुई मां से अनभिज्ञ बालक रोटी मांगता है। नशे में चूर मां ने उस बच्चे को पैरों के बीच पकड़कर मस्तिष्क में लौह–कील ठोक दी, बच्चे का प्राणान्त हो गया....।

बन्धुओ! विचार करिये। भंग की यह विकृति मस्तिष्क के ज्ञान– तंतुओं को इतना अधिक विकृत बना देती है कि जिससे उसकी नीर–क्षीर विवेकिनी बुद्धि विलुप्त–सी हो जाती है।

१६. ज्वर एक : पथ्य अलग-अलग

ज्वरग्रस्त चार व्यक्ति किसी वैद्य के पास उपचार कराने पहुंचे। चारों व्यक्तियों का ज्वर बराबर 101 डिग्री था। लेकिन डाक्टर ने सभी का अनुसंधान करने के बाद चारों व्यक्तियों को औषध देते हुए पथ्य के लिए अलग–अलग निर्देश दिए। एक व्यक्ति को खाने का निषेध किया, दूसरे को हल्का भोजन करने के लिए कहा गया, तीसरे व्यक्ति को पौष्टिक भोजन करने के लिए कहा और चौथे को सब–कुछ खाने के लिए कहा। चारों को बड़ा आश्चर्य हुआ। ज्वर एक समान होते हुए भी यह अंतर क्यों? डाक्टर ने यह अंतर आन्तरिक अनुसंधान के साथ दिया था।

ठीक इसी प्रकार दोष एक समान लगते हों, लेकिन प्रायश्चित्त देने वाले आन्तरिक अनुसंधान के साथ ही एक ही प्रकार के दोषों में अलग–अलग प्रायश्चित्त दे सकते हैं। प्रायश्चित्त दोष के आधार पर नहीं अपितु आलोचना एवं आन्तरिक अनुसंधान पर दिया जाता है।

१७. कपूर की टिकिया

मनुष्य जीवन की क्षणभंगुरता सर्वविदित है। हर क्षण, हर पल अमूल्य क्षण समाप्त होते जा रहे हैं। कपूर की टिकिया को कितनी ही सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाए किन्तु वह उड़ती जाती है और एक दिन पूर्णतः समाप्त हो जाती है। उसकी इस उड़ान को कोई रोक नहीं सकता, ठीक वैसे ही मानव जीवन की यह आयुष्य उड़ती जा रही है। उड़ते–उड़ते एक दिन ऐसा आएगा कि वह परिपूर्णतः उड़ जाएगी अर्थात् मृत्यु हो जायेगी। आयुष्य को कितना ही सुरक्षित, स्थायी रखने का प्रयास किया जाय, वह रह नहीं सकती।

जीवन के इस शाश्वत सत्य को जान करके भव्य पुरुष को चाहिए कि जब तक मन–वचन–काया की ऊर्जा क्षीण नहीं होती, उससे पूर्व ही सत्पुरुषार्थ द्वारा आत्मिक जागृति लाने का प्रयास करे।

१८. ध्यान का फल

वर्तमान में अधिकांश व्यक्ति सोचते हैं कि ध्यान लगाते–लगाते हमने काफी समय व्यतीत कर दिया, परन्तु आज तक उससे कुछ भी नहीं मिला। लेकिन मैं सोचता हूं कि क्या वे जमीन में बीज बोते ही तत्काल उसका फल लेना चाहते हैं? जब दुनिया में साधारण से साधारण बीज भी समय पर फल देता है, तब आज का मानव यह चाहे कि हम अभी ध्यान करें और आज ही हमें दिव्य फल मिल जाए तो, यह एक हंसी की ही बात होगी।

१९. अन्तःदर्शन

आज का आधुनिक मानव अनेक प्रकार की उलझनों में उलझा हुआ है और अनेक आंतरिक स्थितियों में अपनी अन्तर्चेतना का हनन कर रहा है। इन विकट परिस्थतियों में यदि कोई प्रकाशस्तम्भ है, यदि कोई अवलम्बन है, यदि इस जीवन को आगे बढ़ाने के लिए कोई आदर्श है, तो वे सिद्ध परमात्मा ही मुख्य हैं। उन परमात्मा के स्वरूप को हम दूर से न देखें परन्तु अपनी अंतरंग स्थिति से देखें। आश्चर्य इस बात का है कि उस सन्निकट स्वरूप को भी आत्मा देख नहीं पा रही है और आत्मा से कोसों दूर रहे तत्त्व को वह अपने समीप मान रही है, यह बड़ी विचित्र दशा है।

२०. बाहर नहीं, भीतर देखो

जिसके भीतर पवित्र निधि भरी हुई है और जिसके लिए बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं है, उस पर तो व्यक्ति दृष्टि नहीं डाल रहा है और जहां निधि नहीं है तथा निधि का सिर्फ भ्रम हो रहा है, उसके पीछे वह मृग की तरह भटकता है। जैसे कस्तूरी मृग को अपनी नाभि में से कस्तूरी की सुगंध आती है, तब उसका मन छटपटाने लगता है कि यह सुगंध बड़ी अच्छी है, कहां से आ रही है? मैं अपनी शक्ति लगाकर उस खान को खोज लूं और तब झाड़ियों में इधर–उधर छलांग लगाता हुआ वह मृग जंगल में भटकता है। परन्तु झाड़ियों अथवा जंगल में वह सुगंध नहीं मिल पाती, वह नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे अथक परिश्रम करके आखिर में थक जाता है और म्लानता का अनुभव करने लगता है। परन्तु फिर भी उसको सुगंध की खान नहीं मिल पाती। उस मृग को इस बात का भान नहीं है कि कस्तूरी की वह सुगंध पहाड़ों की झाड़ियों या

चट्टानों में नहीं, अपितु अपने में ही है। इस ज्ञान के अभाव में अपने में ही रहने वाली कस्तूरी को वह प्राप्त नहीं कर पाता और उसकी तलाश में ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। क्या यही अवस्था आज के मानव की भी नहीं हो रही है?

२१. आत्मा का धर्मस्थान

आत्म–स्वरूप की पहचानने के लिए धर्मस्थान की पावन भूमि में प्रवेश कीजिए। धर्मस्थान की पावन भूमि में ऐसी दीवारें, कपाट आदि नहीं हैं। वह पावन भूमि तो हृदय है, जिस पर कर्मों के आवरण रूपी किवाड़ लगे हुए हैं। यदि उन्हें खोलकर आप धर्मस्थान में प्रवेश करेंगे, आत्मा के उस प्रकाश पुंज को देखने का प्रयास करेंगे कि इस देहलोक में उस प्रकाश की नितांत आवश्यकता है। जब वह प्रकाश प्राप्त होने लगेगा तब आप सोचेंगे, अरे! हमने सारी जिन्दगी यूं ही खो दी और यही हमारे दुःख का कारण रहा। यदि हम पहले से ही यानी बाल्यावस्था से ही भीतर की ओर मुड़ जाते तो इस तथ्य को समझने में पूर्ण सफल हो सकते थे।

इस जीवन का यदि कोई सार तत्त्व है तो वह है आत्मा का शुद्ध स्वरूप, जिसकी उपलब्धि के लिए प्रारम्भ से ही हम इस वर्णमाला की ओर बढ़ते तो युवावस्था की ओर बढ़ते–बढ़ते विषयों और इन्द्रियों के लुभावने दृश्यों में न पड़कर युवावस्था में इस दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर लेते। परन्तु ऐसा नहीं हो पाया। खैर, अब भी समय है लेकिन यह परिस्थिति तभी बन सकेगी, जबकि आप धर्मद्वार को अन्दर से खोलेंगे।

२२. समता-दर्पण

आत्मा ज्ञाता–दृष्टा है और वह अपनी आंतरिक शक्तियों को देख सकती है परन्तु अधिकांश मानव आंतरिक शक्तियों को न देखकर केवल बाहर की आकृतियों को देखकर ही फूले नहीं समा रहे हैं। जैसे कि–मैं कितना सुन्दर हूं, मैं कितना गौरवर्ण हूं, यह कुंकुम का तिलक ठीक है या नहीं, इसकी परीक्षा लोग दर्पण में देखकर करते हैं।

ऐसा वे क्यों करते हैं?

दर्पण में वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसी कारण उसमें देखने वाला व्यक्ति जैसा है, वैसा ही दिखाई पड़ता है।

जैसे आप दर्पण में मुखाकृति देख सकते हैं, उसी प्रकार समता के दर्पण में अपने–आप को देखलें तो अन्दर के जीवन की समता को देख सकेंगे। जब तक मनुष्य समता के धरातल पर नहीं आता है, तब तक मस्तिष्क की गुत्थियों को वह नहीं समझ सकता। अनेक व्यक्ति अनेक तरह की कल्पनाओं की कुछ ऐसी पोटलियां लेकर चल रहे हैं, जिनसे वे बोझिल बन रहे हैं और संभल नहीं पा रहे हैं। उनके लिए समता–दर्पण की नितांत आवश्यकता है।

२३. विभिन्नता में एकता

इस विश्व में प्राणियों का जो रूप दिखलाई दे रहा है, वह सब आत्मिक शक्ति का दृश्य है। आप रंग–बिरंगी पगड़ियां या टोपियां लगाये हुए अथवा नंगे सिर बैठे हैं। आपकी पगड़ियां भिन्न–भिन्न हैं, टोपियां अलग–अलग हैं और वस्त्र तथा वेशभूषा में भी अंतर है। परन्तु सामान्य दृष्टि से मानव–मानव में अंतर नहीं है। मनुष्य के रूप में सब एक हैं लेकिन विशेष दृष्टि से यदि पुनः चिन्तन किया जाए तो मानव–मानव में भी भिन्नता दृष्टिगत होती है। सभी मनुष्य एक ही सांचे में ढली हुई वस्तु की तरह एकसरीखे नहीं हैं। समान्य रूप से उनमें एकसमान आकृति दिखलाई देती है। कान, आंखें, नाक, मुंह, हाथ, पैर और शरीर, इनकी दृष्टि से तो समानता है, परन्तु यदि आप विशेष रूप से मानवों का आकार देखेंगे तो उनमें एकरूपता नहीं किन्तु विचित्रता मिलेगी। जब किसी मशीन से वस्तुएं तैयार की जाती हैं, तो उससे जितनी वस्तुएं बनती हैं वे सब एक ही आकार की होती हैं। परन्तु मानव का ढांचा एकसरीखा नहीं है। सहज ही मनुष्य यह सोच सकता है कि इस विभिन्नता के पीछे कारण है माता–पिता की विविधता, इसीलिए मनुष्यों की आकृतियों में भी भिन्नता है। परन्तु यह हेतु भी ठीक नहीं बैठता है। माता–पिता भिन्न न हों, तब भी एक ही माता–पिता की सब संतानें एकसरीखी नहीं होती हैं। एक ही माता की कुक्षि से पैदा होने वाली संतानों में भी आप भिन्नता देखेंगे––शारीरिक दृष्टि से, बौद्धिक दृष्टि से और मानसिक दृष्टि से। ये सब विचित्रताएं होने पर भी आप उनमें एक समान तत्त्व अवश्य पाएंगे और वह तत्त्व है चैतन्य स्वरूप आत्मा। यह तत्त्व स्थायी तत्त्व है। इसी

की सुषुप्त शक्ति को जाग्रत् करने का प्रयत्न करना चाहिए।

२४. एकता में विभिन्नता क्यों?

सब में रहने वाली आत्माएं योग्यता की दृष्टि से समान हैं परन्तु उन आत्माओं ने क्वचित् अर्थ को ही ग्रहण किया, अतः विचित्रता पैदा हुई। यदि संसार की सभी आत्माएं सांसारिक पदार्थों में न उलझकर अध्यात्म जीवन के पूर्ण लक्ष्य को ग्रहण करें और ऐसा चिन्तन करें कि जितनी भी आत्माएं हैं, वे सब मेरे जैसी आत्माएं हैं, मेरे तुल्य हैं, तभी कल्याण हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो योग्यता की दृष्टि से वे परमात्मा के तुल्य हैं और जब ऐसी स्थिति है तो इन आत्माओं के साथ मैं द्वन्द्व क्यों करूं? धोखेबाजी क्यों करूं? यदि मैं आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से चिन्तन नहीं करता हूं तो मैं परमात्मा के साथ धोखा करता हूं। मैं मनुष्य को नहीं ठगता हूं परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा को ठगता हूं। मैं अपने पड़ोसियों को धोखा देकर प्रसन्न होता हूं तो आध्यात्मिक दृष्टि का चिंतन मुझे बताता है कि तू आध्यात्मिक नहीं है, भौतिक है। तू पड़ोसियों को अपने तुल्य नहीं समझ रहा है। यदि समाज की विषमता को देखकर कोई खुश होता है तो समझना चाहिए वो भौतिक है, आध्यात्मिक नहीं है, अज्ञानी है। समाज मेरे भाइयों का समूह है। मैं अपनी हवेली में बैठकर गुलछर्रे उड़ाता हूं और यह सोचता हूं कि मेरे पास तो बंगला है, तीन मंजिली हवेली है, मैं तो सब तरह से सुखी रह सकता हूं, मेरे पास में रहने वाले गरीबों की झोंपड़ियां भले ही जलें, नष्ट हों, मेरा क्या बिगड़ता है? यदि इस प्रकार का चिंतन है तो यह बहुत बड़े अज्ञान का चिंतन है। वह नहीं सोच पाता है कि यह हवेली बनाई किसने है, इसको बनाने वाले कौन हैं? क्या स्वयं मेहनत करके बनाई है यह हवेली? इसके निर्माण में उसने स्वयं अपने शरीर का श्रम लगाया है या श्रम करने वाले दूसरे हैं? जिन्होंने श्रम करके हवेली को बनाया है वे व्यक्ति झोंपड़ियों में रह रहे हैं। उनको कितना–क्या कष्ट हो रहा है, आवश्यक सामग्री भी उनको मिल रही है या नहीं? उनकी दशा कैसी है? यदि वे इसमें सहयोग नहीं देते तो तीसरी मंजिल पर नहीं बैठा जा सकता था। तीसरी मंजिल पर बैठाने का श्रेय किसको है? उन श्रम करने वाले व्यक्तियों को ही है। याद रखना चाहिए कि पड़ोसियों और श्रम करने वालों के साथ आत्मीयता का व्यवहार नहीं तो आप भी क्या सुरक्षित रह सकेंगे? अतः सभी के साथ यथायोग्य समान

व्यवहार करना चाहिए।

२५. दयनीय दशा हिन्दुस्तान की

आज हिन्दुस्तान की दशा बड़ी विचित्र है। जिस देश का अधिकांश भाग गावों में रह रहा है, उन ग्रामीण व्यक्तियों की दशा क्या है? वे क्या सोच रहे हैं? वे जैसे–तैसे अपने पेट पर पट्टी बांधकर जीवन बिता रहे हैं। उनके जीवन की दशा दयनीय हो रही है, परन्तु यह सब देखने–सोचने की फुरसत किसको है? कहावत है–'मरे तो दूजा, हम कराएं पूजा'। दूसरे लोगों की कैसी भी दशा हो, हमको इसकी कोई परवाह नहीं, हमारा उनके साथ कोई संबंध नहीं। परन्तु हमारा ऐसा सोचना ज्ञान के साथ है या अज्ञान के साथ ? क्या इन भाइयों के साथ हमारा कोई संबंध नहीं है ? वे भाई जिस रोज संबंध नहीं रखेंगे, उस दिन ज्ञात होगा कि हमारी क्या दशा बन रही है। हमें जिन्दा रहने का अवसर तभी मिलेगा जब उन व्यक्तियों के साथ आत्मीय संबंध बनाये रखेंगे। भले ही आज वे आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं, परन्तु सब हमारे साथी हैं। इनके साथ हर व्यक्ति की आत्मीय भावना होनी चाहिए और चिंतन करना चाहिए कि ये मेरे भाई हैं, मैं इनका भाई हूं।

२६. कपड़ों की मलिनता और आत्मा

कपड़ों के मैल को देखकर रोते रहे तो ऐसा करने से क्या होगा ? मैले कपड़ों को धोने के लिए समय तो चाहिए या नहीं ? वे कितने समय में धुल सकते हैं ? चौबीस घण्टे का मैला कपड़ा एक घण्टे में धुल सकता है। एक घण्टे की खुराक लेते हैं तो उसका रस चौबीस घण्टे चलता है। आप चौबीस घण्टों में एक घण्टे का समय निकालिए और चिंतन कीजिए।

आप कह सकते हैं, "महाराज ! यदि आज कपड़ा धोते हैं तो कल वह फिर मलिन हो जाता है।" परन्तु आप इससे क्यों घबराते हैं ? यदि आप धोते रहेंगे तो गाढ़ा मैल नहीं लगेगा और धोना छोड़ देंगे तो तंतु–तंतु में मलिनता प्रवेश कर जाएगी। आप दुकानदार हैं और रोजाना धुले हुए कपड़े पहिनते हैं परन्तु संध्या तक वे मैले हो जाते हैं। दूसरे रोज फिर धुले कपड़े पहिनते हैं और वे और मैले हो जाते हैं, तो क्या आप उन्हें धोना छोड़ देते हैं ? आप यह सोचकर तो नहीं बैठते कि मैं इन्हें अभी धो रहा हूं और फिर यह मैले हो जाएंगे तो इन्हें

क्यों धोऊं ? जब कपड़ों के लिए आप ऐसा नहीं सोचते हैं और उन्हें बार–बार धोते रहते हैं तो फिर अपनी आत्मा को धोने के लिए चिन्तन क्यों नहीं करते ?

यदि आप दृढ़ विश्वास के साथ आध्यात्मिक साधना में लगते हैं तो अवश्य ही परम आनन्द की अनुभूति को पा सकते हैं।

२७. प्रभु-सेवा का अधिकारी कौन?

प्रभु की सेवा तलवार की धार से भी कठिन बतलाई गई है। इसी कारण आन्तरिक ज्ञान के स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो रही है। परन्तु जिस आत्मा को अपने असली स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, उसको प्रभु की सेवा इतनी कठिन ज्ञात नहीं होती, जितनी कि अज्ञानी को होती है। अज्ञानी मनुष्य को सेवा का कार्य सही नहीं दिखलाई देता। यहां 'अज्ञान' का तात्पर्य कम ज्ञान से नहीं है। ज्ञान किसी को कम हो या अधिक, कोई अधिक या कम ज्ञान से अज्ञानी नहीं कहला सकता। परन्तु जिसका ज्ञान अविकसित है, जो वस्तु जैसी है उसे वैसी न समझकर उसमें जो विपरीत श्रद्धान करता है, उसको यहां अज्ञानी कहा गया है। ऐसा अज्ञानी प्रभु–सेवा का अधिकारी नहीं हो सकता।

२८. ज्ञानी-अज्ञानी कौन?

संसार के सभी पदार्थ नाशवान हैं। इन नाशवान पदार्थों को काम में लिया जा सकता है, परन्तु ये ही आत्मा के लिए सर्वस्व नहीं बनते हैं। आत्मा के लिए तो चरम लक्ष्य प्रभु के तुल्य बनने की प्रबल जिज्ञासा और तदनुरूप श्रद्धान ही मुख्य हैं, ऐसे लक्ष्य पर आरूढ़ व्यक्ति चाहे थोड़ा ज्ञानी हो या अधिक, परन्तु वह प्रभु की सेवा के मार्ग को ग्रहण करने वाला बन सकता है। जिसको इससे विपरीत ज्ञान है, जो आत्मा और परमात्मा संबंधी विषय को समझता ही नहीं है अथवा जो समझकर झुठलाता है, अपनी कमजोरियों को छिपाकर परलोक का अपलाप करता है, आत्मा की शक्ति को विस्मरण करके भौतिक तत्त्वों का प्रतिपादन करता है, संसार की मोह–माया ही जिसके जीवन का लक्ष्य है, इस जीवन के अन्दर कुछ खा लिया, पी लिया, पहिन लिया, मौज–शौक कर लिया, यही सब–कुछ है, इसके अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं हैं, जो इस प्रकार की श्रद्धान रखकर चलने वाला है, तो चाहे वह व्यक्ति लोगों की दृष्टि में अधिक

ज्ञानी भी क्यों न हो, भैतिक विज्ञान की दृष्टि से प्रकाण्ड विद्वान भी क्यों न हो, परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि जो इस प्रकार एकाकी ज्ञान के साथ है और अपने निज स्वरूप को भूल कर संसार के विज्ञान को ही सब–कुछ मानता है, वह अज्ञानी है।

२९. श्रद्धाभ्रष्ट क्रिया

जीवन की क्रियाओं का प्रयोग यदि वास्तविक शुद्ध आत्मिक लक्ष्य की ओर है तो उनका फल अनेकान्त नहीं होता, एकान्त होता है। अर्थात् वह अवश्यमेव आत्मा की सिद्धि को दिलाने वाला और प्रभु की सेवा के चरम सिरे पर पहुंचाने वाला होता है। परन्तु जिसका लक्ष्य विपरीत है, श्रद्धान सही नहीं है, वह व्यक्ति कितनी–कुछ क्रियाएं भी करे, चाहे वह संसार के अन्दर परोपकार के नाम से क्रिया करे, चाहे किसी अन्य सेवा की दृष्टि से काम करे अथवा धार्मिक क्षेत्र की पोशाक ले करके कठिन–से–कठिन तप भी करे परन्तु वह तप भी सम्यक्दृष्टि आत्मा के तप के सोलहवें हिस्से को भी नहीं छूता है। कहा भी है कि––

मासे मासे उ जो बोलो, कुसग्गेणं तु भुंजइ,
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घई सोलंसि।

कोई मास–मास खमण की तपस्या करे, एक महीनेभर का तप करे, यानी सिर्फ गरम पानी के ही आधार पर तीस दिन तक रहे और इकतीसवें दिन भोजन की दृष्टि से स्वल्प भोजन करे। इतना स्वल्प भोजन कि डाभ के तृण के ऊपर जितना अन्न आए, उतना अन्न वह ग्रहण करे और पुनः तीस दिन की तपस्या गर्म पानी के आधार पर करले और फिर तीस दिन समाप्त होने पर उतना ही अन्न पुनः ग्रहण करके तपस्या करे। ऐसे महीने–महीनेभर की तपस्या करने वाला व्यक्ति दुनिया की दृष्टि में महान तपस्वी कहला सकता है, लोग उससे प्रभावित हो सकते हैं। परन्तु प्रभावित वे ही होते हैं, जिन्हें सही मार्ग का ज्ञान नहीं है। ऐसा बाल–तपस्वी स्वयं भी संसार में भटकता है और अपने भक्तों को भी भटकाता है।

३०. प्रश्नकर्ता, प्रश्नकर्ता को पहचानें

इस दृश्य जगत् में अनेक प्राणी अपनी विविध क्रियाओं द्वारा कार्य कर रहे हैं, परन्तु उन्हें प्रभु के दर्शन नहीं हो रहे हैं। इस आत्मा ने अनादि काल से संसार के पदार्थों का अनुभव किया है और करती ही चली जा रही है। परन्तु इन नाशवान पदार्थों के बीच उन अविनाशी तत्त्वों का अंश भी दृष्टिगत नहीं हो रहा है। परमात्मा का स्वरूप कहां है ? कितनी दूर है ? उसको कैसे पाया जाए? इन सब प्रश्नों का हल एक ही स्थल पर हो सकता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, किसी और स्थान का अवलोकन करने की भी आवश्यकता नहीं है। किन्तु जहां यह प्रश्न उठ रहा है वहीं प्रश्नकर्ता स्वयं को देख लेता है तो उसकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है। परन्तु प्रश्नकर्ता स्वयं के स्वरूप को नहीं देख पा रहा है। जहां से प्रश्न का आविर्भाव हो रहा है, उस भूमिका के यदि दर्शन कर लिए जाएं तो परमात्मा कहां है ? आत्मा कहां है ? इन दोनों प्रश्नों का हल एक साथ ही हो जायेगा।

३१ कर्मों का आत्मा से संबंध

आत्मा के सर्वोत्तम प्रदेशों से कर्म–वर्गणाएं संबद्ध होती हैं, चाहे शभ कर्मों का बन्धन हो या अशुभ कर्मों का, बन्धन सर्वोत्तम प्रदेशों से होगा। जिस प्रकार उबलते तेल के मध्य में बड़ा डाल दिया जाता है तो वह अपने सभी छिद्रों से तेल को ग्रहण करता रहता है। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र संबंधित कर्म–वर्गणाओं को एक साथ सर्वात्म प्रदेशों से ग्रहण करती रहती है।

जीव के साथ संबद्ध होकर वे जड़ कर्म–वर्गणाएं भी सजीव कहलाने लगती हैं।

इन कर्मों का विभागीकरण मुख्यतः चार प्रकार से होता है– प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध।

कर्मों के अपने–अपने स्वभाव को प्रकृति बंध, उनकी नियत समय तक फल देने की शक्ति को स्थिति बंध, उस फल में आने वाली रस की तीव्रता–मंदता को अनुभाग बंध तथा कर्म दलिकों को प्रदेश बंध कहते हैं।

स्वभावः प्रकृति प्रोक्तः स्थिति कलावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयोः प्रदेशी दल संचयः।।

जैन दर्शन में कर्म–सिद्धांत की व्याख्या बहुत गहन, गम्भीर एवं साइंटिफिक तरीके से प्रतिपादित है। ऐसी व्याख्या अन्य दर्शनों में नहीं मिलती। अन्य दर्शनों में प्रारब्ध, माया, प्रकृति, वासना आदि शब्दांतर से कुछ व्याख्या

मिलती है, किन्तु वह कर्म की मौलिक विवेचना नहीं कर पाती।

इन कर्मों के कारण आत्मा चार–गति, चौरासी लाख जीव–योनियों में परिभ्रमण कर रही है। जब तक इनका समूलतः उच्छेदन नहीं होगा, तब तक आत्मा शाश्वत सुख की अवस्था प्राप्त नहीं कर सकती।

३२. मूल कारण की खोज

कर्म–विदारण किन उपायों से किए जाते हैं ? किन कारणों से कर्म–बन्धन तथा कर्मोदय की स्थिति बनती है ? इन सबका परिज्ञान करते हुए कर्म–बन्धन के मूल कारणों पर प्रहार करना चाहिए। जब तक कर्म–बन्धन के मूलभूत कारणों पर प्रहार नहीं किया जाएगा तब तक कर्मों का समूलतः नाश नहीं हो सकता। वनस्पतियों में आपने 'रजका' का नाम सुना होगा। रजका को बोने के बाद जब वह बड़ा होता है, तब कृषक इसे ऊपर–ऊपर से काट लेते हैं। कटने के बाद भी वह कुछ दिनों के बाद पानी आदि के मिलने पर पुनः लहलहाने लगता है, क्योंकि उसकी जड़ नहीं काटी गई है। जब तक जड़ का उच्छेदन नहीं होगा, तब तक ऊपर से कितना ही काट लिया जाय, फसल उतनी ही खड़ी हो जाएगी। यह स्थिति हर क्षेत्र में होती है। रोग को दूर करने के लिए जब तक रोगोत्पत्ति के मूलभूत कारणों को नहीं हटाया जाएगा, तब तक रोग समूलतः नष्ट नहीं हो सकता। कर्म का विदारण भी समूलतः जब तक नहीं होगा, तब तक कर्म–बन्धन की क्रिया भी चलती रहेगी। अपुनर्भाव से कर्मोच्छेदन के लिए त्रियोग समन्वित संयम तथा समीक्षण दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता है।

इस प्रकार का संयमीय जीवन अनगारी अवस्था में ही अपनाया जा सकता है। अनगार से तात्पर्य जिसके कोई घर न हो। कल वहां तो आज यहां। आज यहां तो कल कहीं और स्थान पर चले जाएंगे। इस प्रकार की वृत्ति वाले साधक को अनगार कहा गया है। इस प्रकार से विचरण करने वाला अनगारी साधक, कर्मोत्पत्ति के मूलभूत कारणों पर प्रहार करता हुआ उन्हें आत्मा से समूलतः उखाड़ फेंकता है। जब रजके को मूल सहित काट देते हैं, तब वह पुनः नहीं उगता। उसी प्रकार साधक जब कर्मों का समूलतः छेदन कर देते हैं, तब आत्मा के साथ उन कर्मों का पुनः कभी भी बन्धन नहीं होता। वे कर्म आत्मा से

सदा–सर्वदा के लिए अपुनर्भाव से विलग हो जाते हैं।

३३. संकल्पशक्ति : दृढता

अतिमुक्त अणणार ने यह दृढ निश्चय किया था कि मुझे निश्चित रूप से कर्मों का आत्मा से विलगीकरण करना है। इसी दृढ संकल्प के साथ वे साधना के पथ पर समीक्षण दृष्टि के साथ बढते चले गये। रत्नत्रय–रूप आराधना विशुद्ध, विशुद्धतर, विशुद्धतम बनती चली गई। यही विशुद्धतम अवस्था इतनी तीक्ष्ण बनी कि बह कर्म की सुदीर्घ परम्परा को नष्ट करने में समर्थ हो गई। उन्होंने लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त किया। शीतलता ही नहीं, परम शीतलता प्राप्त करली। वे शांत, प्रशांत अवस्था में अवलीन हो गए। आत्मा की चरम परिणति, शीतलता अर्थात् परिपूर्ण शांत–प्रशांत अवस्था प्राप्त करना है। अतः आवश्यकता है, दृढ़–संकल्प शक्ति की।

३४. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।

–तत्त्वार्थ सूत्र 5/26

संसार के समस्त सत् पदार्थ उत्पत्ति, विनाश–शक्ति होने के साथ ही ध्रुवत्व स्वभाव वाले हैं। जड़ एवं चैतन्य पर्यायों की अपेक्षा उत्पन्न, नष्ट होते रहते हैं। किन्तु जड़त्व चैतन्यत्व की अपेक्षा ध्रुव है। उसका मौलिक स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता।

पुद्गलों में दृश्यमान मनोज्ञता, कमनीयता, रमणीयता, आकर्षण, पुद्गलों के परिर्वतन से अमनोज्ञता, अकमनीयता, अरमणीयता, अनाकर्षण में परिवर्तित हो जाती हैं।

बचपन का सुन्दर रूप यौवन और वृद्धत्व में जरा–जीर्ण होता हुआ नष्ट हो जाता है। परिवर्तन के इस ध्रुव सिद्धांत को परिवर्तित करने का सामर्थ्य संसार के किसी भी व्यक्ति में नहीं है।

साधक को स्वात्म बोध के साथ समीक्षणपूर्वक पुद्गलों के परिवर्तन को समझते हुए अमरत्व रूप अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना

चाहिए।

३५. कर्मों का कर्जा

समय का परिपाक होने पर निश्चित रूप से कर्म का उदय आत्मा पर होता है। प्रदेशोदय से हो चाहे विपाकोदय से, कर्म को भोगे बिना आत्मा की कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती "कडाण कम्माण न मोख्य अत्थि" कृतकर्म के भोग के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कर्म का आत्मा से अनादि संबंध होते हुए भी आत्मा सत्पुरुषार्थ के बल से उसे विलग कर सकती है। जिस प्रकार कि मुर्गी एवं अण्डे, स्वर्ण और मिट्टी के अनादि संबंध को प्रयोगविशेष द्वारा व्यवच्छिन्न किया जा सकता है।

आत्मा के लिए कर्म भी एक कर्ज है। जिस प्रकार कर्जदारों में वह व्यक्ति श्रेष्ठ होता है जो अपने पास धन–सम्पत्ति के सुलभ होने पर निश्चित सीमा से पहले ही कर्ज चुका दे, जिससे वह शीघ्र ही उस कर्ज से हल्का हो जाए। ठीक इसी प्रकार आत्मा पर जो कर्ज है, उसे सुज्ञ आत्मा शीघ्र ही चुकाने का प्रयत्न करे। मानव तन, स्वस्थता, निज–धर्म का सुयोग आदि दुर्लभ वस्तुएं हमें प्राप्त हैं। ऐसे सुयोग में पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करने के लिए प्रयास करने चाहिए। आत्म–शक्ति की तीक्ष्णता होने पर ही कर्म का कर्ज चुकाया जा सकता है। उन कर्मों के कर्ज को चुकाने के लिए सत्पुरुषार्थशील बनना चाहिए। आज का पुरुषार्थ निश्चित ही पूर्वगृहीत कर्म–कर्ज को चुकाने में समर्थ होगा, साथ ही रत्नत्रय की शुभाराधना रूप तीक्ष्णता से आने वाला कर्म–बंधन का कर्ज भी रुक जाएगा। आत्मा कर्मों से हलकी होती चली जाएगी।

३६. अभयदान

दाणांण सेट्ठं अभयप्पयाणं

–सूत्रकृतांग, सूत्र 1/6/23

सभी दानों में अभयदान सर्वश्रेष्ठ दान है। आहारदान, ज्ञानदान, औषधदान भी अपने–अपने स्थान पर उपयोगी हैं, किन्तु इन सभी दानों का आधारभूत अभयदान है। मृत्यु के भय से आतंकित व्यक्ति को कितना ही आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान दिया जाए, तथापि उसे शांति नहीं मिल सकती। अतः मृत्यु के भय से आतंकित व्यक्ति को निर्भय बनाने वाला अभयदान

ही सर्वश्रेष्ठ दान है।

जब जीव संसार की समस्त आत्माओं के साथ अपना आत्मीय व्यवहार रखता है, प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणावत बना रहता है, तब उसकी यह आत्मीय भावना स्वयं के परमात्म स्वरूप को उजागर करने में सहायक होती है।

"अभयदान" अभयदान–ग्राहक को तो अभयी बनाता ही है, किन्तु प्रदाता के कर्म–निर्जरा एवं पुण्यार्जन में भी हेतु बनता है।

अभयदान तभी दिया जाएगा जब दृष्टि–समीक्षण बनेगी।

३७. करुणा

सव्वेसिं जीवियं पियं

संसार के समस्त प्राणियों को जीवन प्रिय है। मरना कोई नहीं चाहता, सभी जीना चाहते हैं। समस्त चराचर प्राणियों की रक्षा करना करुणा है। करुणावंत साधक अखिल प्राणियों के दुःखों को दूर करने की निःस्वार्थ भावना वाले होते हैं। यह भावना स्वये के कर्मरूपी मल को दूर करने वाली बनती है।

जिस प्रकार प्रकाशमान हीरा रजकण द्वारा मलिन हो जाता है, चमकता गोल्ड (सोना) मिट्टी के कारण मलीमस बन जाता है, उसी प्रकार अनन्त–अनन्त गुणों से सम्पन्न आत्मा भी कर्मों के मल से मलीमस बन जाती है। इसका स्वाभाविक रूप विकृत बन जाता है। इस विकृत रूप को हटाने में समस्त प्राणियों के प्रति रखी जाने वाली करुणा अत्यधिक सहायक बनती है। निःस्वार्थ करुणाभाव की चरम परिणति ही परमात्म भाव को उजागर करती है।

३८. छद्मस्थों के लिए आदर्श : वीतरागी

वीतरागी महापुरुषों की गुण–स्तवना स्वात्मीय जीवन को आलोकित करने में सहायक होती है। सिद्धान्त की दृष्टि से जिस प्रकार धर्मास्तिकाय तत्त्व गति–क्रिया में सहायक होता है। गति–सहायक तत्त्व की खोज में अब तक का वैज्ञानिक अनुसंधान "ईथर" के नाम से सामने आया। यह तत्त्व सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। जब भी कोई प्राणी गति–क्रिया करता है तो वह गति–क्रिया होती तो उसके स्वयं के पुरुषार्थ से है, किन्तु उस गति–क्रिया में धर्मास्तिकाय द्रव्य सहायक होता है।

इसी प्रकार भव्य आत्माओं के विकास में आदर्श रूप में सिद्ध भगवंत

आदि लोकोत्तर महापुरूरुष सहायक बन जाते हैं। अरिहंत आदि महापुरुष तो उपदेशादि के माध्यम से भी भव्य आत्माओं को प्रतिबोधित करने में सहायक बनते हैं, किन्तु सिद्ध भगवंत तो मात्र आदर्श के रूप में भव्य आत्माओं के लिए स्वयं के आत्मीय गुणों को व्यक्त करने में सहायक रूप बनते हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक व्यावहारिक रूपक भी लिया जा सकता है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति आईने में अपना मुंह देखता है, और जब उसे अपने चेहरे पर काला धब्बा दिखलाई देता है तो उस धब्बे को वह अपने ही पुरुषार्थ द्वारा हटाकर चेहरे को स्वच्छ बना लेता है। आईना उसमें मात्र सहायक होता है। मूलतः तो धब्बे को हटाने का प्रयास स्वयं को ही करना पड़ता है। इसी प्रकार आईने की तरह आदर्श रूप में सिद्ध एवं अरिहंत भगवान अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्म रूप काले धब्बे को हटाने में सहायक बनते हैं।

भव्य आत्माएं उनके आदर्श रूप जीवन के साथ जब अपनी आत्मा का तुलनात्मक अध्ययन करती हैं तो उन्हें कर्म का काला धब्बा स्पष्ट नजर आ जाता है, जो कर्म आत्मगुणों को मलीमस बनाता है और जीव के ऊर्ध्वारोहण में अवरोधक बनते हैं। साधना की उच्चतम श्रेणियों पर पहुंचने के लिए ऐसे कर्ममल का आत्मा से प्रक्षालित होना आवश्यक है।

३९. उत्पत्ति-विनाश के बीच ध्रौव्यता

उत्पत्ति–विनाश के साथ ध्रुवत्व के रूप में पदार्थ किस प्रकार विद्यमान रहता है, इसका विज्ञान एक स्थूल रूपक के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

एक राजा के एक राजकुमार एवं एक राजकुमारी थे। राजकुमार स्वर्ण कुण्डल को तुड़वाकर स्वर्णमुकुट बनवाना चाहता था, लेकिन राजकुमारी स्वर्णकुण्डल को उसी रूप में रखना चाहती थी। इन दोनों के विचारों से निरपेक्ष सम्राट मध्यस्थ थे। क्योंकि वे सोच रहे थे कि स्वर्णकुण्डल से स्वर्णमुकुट बनवाया जाए या उसे स्वर्णकुण्डल के रूप में रखा जाए, दोनों में स्वर्ण तो विद्यमान रहेगा ही। उसमें कोई क्षति होने वाली नहीं है। ठीक इसी प्रकार, संसार की समस्त वस्तुएं परिवर्तनशील हैं, हर क्षण प्राचीन पुद्गल परिवर्तित हो जाते हैं। इतना होते हुए भी, वस्तु के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार एक काष्ठपट्ट है, उस पर से हर क्षण पुद्गल परमाणु निकलते जाते हैं और दूसरे परमाणु पट्ट से संयोजित हो जाते हैं। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है किन्तु इस क्रम की विज्ञप्ति तब होती है जब काष्ठपट्ट जर्जरित हो जाता है।

इसी प्रकार देह–पिण्ड में भी उत्पाद–व्यय चलता रहता है। पुराने परमाणुओं का विसर्जन एवं नये परमाणुओं का सृजन होता रहता है। वृद्धावस्था तत्क्षण नहीं आती, किन्तु निरन्तर पौद्‌गलिक परमाणुओं के परिवर्तन से आती है। यह परिवर्तन शीघ्रता से बोधगम्य नहीं होने से मानव वस्तु का यथार्थ बोध नहीं कर पाता।

४०. पौद्‌गलिक परिवर्तन

पुद्‌गलों का परिवर्तन सशक्त से सशक्त पदार्थ को भी जीर्ण–शीर्ण कर डालता है। आपने वज्ररत्न का नाम सुना होगा। वह इतना सशक्त होता है कि उसके ऊपर कितना ही लोहा डाल दिया जाए, किन्तु उसकी एक नोक तक नहीं टूटती। ऐसे वज्ररत्न में भी हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। समय के परिपाक से वह वज्ररत्न भी इतना जीर्ण हो जाता है कि पांच वर्ष का बालक भी उसे हाथ में लेकर मिट्टी के ढेले की तरह मसल सकता है।

कोई भी वस्तु सदा–सर्वदा के लिए उत्पाद–व्यय से रहित मात्र ध्रौव्यत्व रूप में रहने वाली नहीं है। जड़–पदार्थ में उत्पाद–व्यय होते हुए भी वे जड़ की अपेक्षा ध्रुव होते हैं। कितना भी परिवर्तन हो जाए, किन्तु जड़ कभी चैतन्य नहीं होता। इसी प्रकार चैतन्य भी उत्पाद–व्यय स्वभाव वाला होते हुए भी चैतन्यत्व का अपेक्षा ध्रुव है। जड़त्व की अपेक्षा चैतन्यत्व में अनिर्वचनीय अवस्थाएं पाई जाती हैं। जड़ को सद्‌द्रव्य के रूप में कहा जा सकता है पर चैतन्यत्व में सत् के साथ–साथ ज्ञान एवं वास्तविक आनन्द की अवस्थाएं भी रही हुई हैं। संक्षेप में जड़ और चैतन्य में यही मौलिक अन्तर है।

पुद्‌गलों के परिवर्तन से मृदु शब्द भी कठोर और कठोर शब्द भी मृदु हो जाता है। पुद्‌गलों के परिवर्तन से रूपवान कुरूप और कुरूप रूपवान बन जाता है। पुद्‌गलों के परिवर्तन से ही खट्टा रस मीठा और मीठा रस खट्टा बन जाता है। पुद्‌गलों का परिवर्तन ही सुगंध को दुर्गंध के रूप में और दुर्गंध को सुगंध के रूप में बदल सकता है। पुद्‌गलों का परिवर्तन ही खुरदरे स्पर्श को सुहावना और सुहावने स्पर्श को खुरदरा बना सकता है। पौद्‌गलिक परिर्वन ही संसार की विविध विचित्रता का मूल हेतु है। पुद्‌गलों पर आसक्त होकर आनन्द मनाने वाला व्यक्ति कभी भी शाश्वत सुख की अनुभूति नहीं कर सकता।

४१ पुद्‌गलानन्द शाश्वत नहीं

पुद्‌गलानन्दी कोई भी आत्मा शाश्वत सुख की उपलब्धि नहीं कर सकती। क्योंकि पुद्‌गलों में वह शाश्वत तत्त्व नहीं, जिससे वह आत्मा को शाश्वत सुखदायी बना सके। यथार्थ में तो पुद्‌गल सुखरूप है ही नहीं। जो मिष्टान्न सुख देने वाला माना जाता है, उसी का अधिकाधिक आहार करने पर वही दुखदायी बन जाता है। यही स्थिति अन्य पौद्‌गलिक वस्तुओं की भी है। सुखरूप दिखने वाले पुद्‌गल वास्तव में सुखरूप में न होकर सुखाभास के रूप में हैं। अतः भव्य आत्मा पुद्‌गलानन्दी न बनकर आत्मानन्दी बनने का प्रयत्न करे। आत्मानन्द वह आनन्द है, जो सदा–सर्वदा के लिए परम आनन्द प्रदान करने वाला है, जिस आनन्द की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा कभी भी दुःखरूप स्थिति में नहीं आ सकती। आत्मानन्द को पाने के लिये आवश्यकता है आत्माभिमुख बनने की, समीक्षण प्रज्ञा को उजागर करने की।

४२ आत्माभिमुख बनो

जो साधक पुद्‌गलासक्ति से निरपेक्ष हो समीक्षण की साधना में तन्मय बन जाता है, वह आत्मोत्कर्ष की दिशा में प्रगतिशील बन जाता है। जब कृष्ण महाराज अपने दल–बल के साथ किसी मार्ग को पार कर रहे थे, उस समय रास्ते में एक मरी हुई कुतिया पड़ी हुई थी, जिसकी भयानक दुर्गन्ध दूर–दूर तक फैल रही थी। कृष्ण महाराज के आगे चलने वाले सभी अनुचर, अश्वारोही आदि उस दुर्गन्ध पर घृणा करते हुए नाक पर पट्‌टी बांधकर आगे बढ रहे थे। किन्तु उसी कुतिया के निकट से निकलते हुए श्रीकृष्ण को न तो दुर्गन्ध से घृणा हुई और न ही श्रीकृष्ण ने नाक पर पट्‌टी ही बांधी। उनकी दृष्टि तो कुतिया की दंत–पंक्ति पर ही जम गई, जिसे देखकर वे बोले–अहो, इस कुतिया की दंत–पंक्ति कितनी क्रमबद्ध और स्वच्छ है ! यह है सम्यक्‌दृष्टि आत्मा का विचार। स्वात्माभिमुख साधक यह जान लेता है कि यह मनोज्ञता या अमनोज्ञता पुद्‌गल के परिणाम से है। इस पर राग–द्वेष कर कर्म–बन्धन नहीं करना चाहिये।

४३. क्रिया की प्रवृत्ति शुभ में या अशुभ में ?

मन, वचन और कायारूप योगों के द्वारा क्रिया की प्रवृत्ति शुभ कार्य में भी हो सकती है तो अशुभ में भी। हिंसात्मक कार्य में भी हो सकती है तो अहिंसात्मक कार्य में भी। जिस प्रकार सुई को सीने के काम में लिया जा सकता है, तो उसे किसी को चुभाया भी जा सकता है। कांटे से कांटा निकाला भी जा सकता है तो कांटे को शरीर में गड़ाया भी जा सकता है। इसी प्रकार त्रियोग से युक्त क्रिया के द्वारा आत्मा पर स्थित कर्मों की परतों को हटाया भी जा सकता है, तो उन्हीं त्रियोगों से सम्बन्धित क्रियाओं के शुभाचरण से आत्मा को कर्मों से मलीमस भी बनाया जा सकता है। मन, वचन, कायरूप क्रियाओं की प्रवृत्ति को किस प्रकार गतिशील करना चाहिए, इसका विवेक व्यक्ति को होना आवश्यक है। जब तक वह इस विवेक से अनभिज्ञ रहेगा तब तक आत्मा का मौलिक स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है–

जोग–सच्चेणं जोगं विसोहेइ

योग–सत्य से जीव मन, वचन, काय की क्रिया को विशुद्ध करता है। यह विशुद्धि योग समीक्षण से संबंधित है।

४४. कर्ता के तीन रूप

कर्ता से क्या अर्थ लिया जाय ? क्या जिस क्रिया का जो कर्ता है, वह ही यथार्थ में उस क्रिया का कर्ता है या करवाने वाला एवं उस क्रिया का अनुमोदन करने वाला उसका कर्ता है ?

जिस प्रकार इंजन चलाने वाला व्यक्ति एक होता है किन्तु उसे चलाने में गार्ड तथा कोयला डालने वाले आदि अनेक व्यक्ति सहायक होते हैं। उस गाड़ी में बैठने वाले व्यक्ति भी उसे चलाने में सहायक होते हैं। यदि गाड़ी नहीं चलती है तो यात्रियों के मन में यह भावना आती है कि जल्दी से गाड़ी चले, जिससे गंतव्य तक शीघ्र पहुंच जाएं। यह गाड़ी चलाने में अनुमोदन है। अतः गाड़ी को चलाने वाला भी कर्ता है, गाड़ी को चलाने में सहयोग करने वाले भी उसके कर्ता हैं और उसके अनुमोदक भी उसके कर्ता हैं।

इसी प्रकार भोजन अथवा व्यापार में होने वाली हिंसा को करने वाले उस पापकर्म के कर्ता के रूप में हैं, उस हिंसा को करवाने वाले भी हिंसा करवाने वाले कर्ता के रूप में हैं और उस हिंसा का अनुमोदन करने वाले, अनुमोदनकर्ता

के रूप में हैं। अतः स्पष्ट है कि कर्ता के विविध रूप होते हैं। उन विविध रूपों के अनुसार पापकर्मों के, जीव सहभागी होते हैं।

यद्यपि रसोई बनाने वाली स्त्री है, किन्तु पुरुष आर्डर देता है–– रसोई शीघ्र बनाओ, मुझे दुकान जाना है। उस आर्डर से पुरुष रसोई का करवाने वाला कर्ता है। यदि रसोई जल्दी बन गई तो वह बहुत खुश होता है, तब वही रसोई का अनुमोदनकर्ता बन जाता है। अतः रसोई के पाप का संबंध पुरुष के साथ भी जुड़ जाता है।

इसी प्रकार व्यापार के विषय में भी है। यद्यपि व्यापार पुरुष करता है, किन्तु बहिनें यह चाहती हैं कि मेरे पतिदेव दुकान पर बैठें और खूब धनोपार्जन करें। मेरे लिए अच्छे जेवर, सुन्दर बंगला और आधुनिक डिजाइनदार साड़ियां खरीद कर दें, इस भावना से वह व्यापार को कराने वाली कर्ता बनती है। यदि पुरुष कमाकर उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर देता है तो वह व्यापार की अनुमोदनकर्ता बनती है। इस प्रकार व्यापारिक हिंसा में पुरुष के साथ स्त्री भी सहभागी होती है।

अतः स्पष्ट है कि पाप करने वाला कोई भी हो, किन्तु उससे संबंधित सभी व्यक्ति उस पाप के सहभागी होते हैं।

४५. प्रेय मार्ग और दहेज

वर्तमान युग में कितनी कुप्रथाएं, कुरीतियां चल रही हैं। दहेज–प्रथा के भूत ने सारे समाज में आतंक फैला रखा है। दहेज की वेदी पर कई कुंआरी बहिनों ने अपना बलिदान दे दिया है, तो कई नव–विवाहिता बहिनों को अपना होम करना पड़ा है। शिष्ट कहलाने वाला समाज भी दहेज प्रथा से अछूता नहीं है। बाहरी प्लेटफार्म पर दहेज का विरोध करने वाले बहुत मिलते हैं, सामाजिक मीटिंगों में लम्बे–चौड़े भाषण देने वाले भी बहुतेरे हैं किन्तु विरोध करने वाले कई व्यक्तियों के समक्ष भी जब स्वयं के लड़के के संबंध का प्रसंग आता है तो वे दहेज लेने से नहीं चूकते। ऊपरी तौर पर तो यह प्रदर्शन करते रहते हैं कि हम दहेज नहीं मांगते, देने वाला अपनी बेटी को देता है, लाख दे चाहे करोड़, हमें उससे कोई मतलब नहीं है। हमें तो लड़की गुणवान चाहिए। ऐसे बोलने वाले व्यक्ति भी प्रकारान्तर से मांगने से नहीं चूकते हैं। मेरे कानों में ऐसे शब्द भी पड़ते हैं कि कई लड़कों के पिता ऐसा कहते हैं, 'साहब, पहले अमुक शहर के व्यक्ति आए थे, वे इतना देने को कह गए थे।' इसका तात्पर्य है कि इससे कम

तो आप क्या देंगे ? इसी प्रकार के अन्य तरीकों के द्वारा भी दहेज की मांग की जाती है। यह कुप्रथा समाज के लिए एक भयंकर अभिशाप बनी हुई है।

जिन–धर्म के उपासक कहलाने वाले जैन जो कि छोटे–से–छोटे जन्तु को भी मारने में हिचकते हैं, ऐसे अहिंसक व्यक्ति भी यदि दहेज प्रथा के रोग से ग्रस्त हैं तो वे सच्ची तरह से अहिंसा की उपासना नहीं कर सकते।

आप सभी श्रेय मार्ग के राही बनना चाहते हो तो प्रेय मार्ग को सबल बनाने वाली इस कुप्रथा को त्याग देना चाहिए। बिना सत्पुरुषार्थ के उपार्जित किया गया धन भी पच नहीं सकता। व्यक्ति को कभी भी परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिए।

४६. श्रोत्र इन्द्रियारामी का परिणाम

श्रोत्र इन्द्रिय कान में अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के शब्द आते हैं। प्रशंसात्मक शब्द मन को प्रफुल्लित करने वाले होते हैं। इन प्रशंसा और निंदाभरे शब्दों पर होने वाला राग और द्वेष का भाव कर्म–बंधन कराने वाला बन जाता है। कान के विषय में आसक्त मृग अपने जीवन को खो बैठता है। विषधर सर्प, जिसके डंक मात्र से प्राणियों का वध हो जाता है, ऐसा सर्प भी कर्णेन्द्रिय के वशीभूत होकर अपनी शक्ति खो देता है। जब सपेरा पूंगी बजाने लगता है तो उस पूंगी की मधुर झंकार को सुनकर सर्प अपना भान भूल जाता है और झूम उठता है। वह बिल से निकलकर सपेरे के सामने कुंडली मारकर पुंगी के नाद में तन्मय हो जाता है। उसकी आसक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह सपेरा उसे पकड़कर, उसके मुंह से जहर की ग्रंथि निकाल देता है, तब भी उसे भान नहीं रहता है। यही हाल मृग (हरिण) का है, जो सहज रूप से कसी की पकड़ में नहीं आ सकता। जंगलों में इधर से उधर लम्बी चौकड़ियां मारता रहता है, वह भी संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर उसमें आसक्त हो जाता है। उस संगीत को श्रवण करने के लिए वह संगीत–गायक के सामने चला जाता है और उसकी आसक्ति उसे बंधन में फंसा देती है। आज के अधिकांश मानवों का भी यही हाल है। छोटे–छोटे बच्चे भी, जहां फिल्मों के अश्लील गीतों की गुंजार आ रही हो, वहां खड़े हो जाते हैं। बड़े–बड़े व्यक्ति अपने आवश्यक कामों को छोड़कर गीतों की गूंज में आसक्त बन जाते हैं।

क्या आपने सोचा कि यह आसक्ति क्या गुल खिलाएगी ? कर्णेन्द्रिय पर आसक्ति जब सर्प और मृग को परतंत्र बना देती है तो वह उनके जीवन–प्रणाश का कारण बन जाती है तब उसी कर्णेन्द्रिय के विषय में आसक्त इन्द्रियारामी मानव की क्या दशा होगी ?

बंधुओ ! यह सोचने का विषय है कि आज आपको चिन्तनशील मस्तिष्क मिला है, वीतराग वाणी श्रवण करने को मिल रही है। इसे श्रवण करके भी यदि ऐन्द्रिक सुख में फंसे रहोगे तो फिर आत्मानुरागी बनने का मौका कब मिलेगा ?

४७ रूपासक्ति का परिणाम

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय कान से सम्बन्धित है तो चक्षु इन्द्रिय का विषय आंख से सम्बन्धित है। आंख के सामने भी अच्छे और बुरे, दोनों रूप आते हैं। इन्द्रियारामी जीव अच्छे पर राग और बुरे पर द्वेष कर बैठता है, जो कि उसके पतन का कारण बन जाता है।

रूप के लोभी पतंगिये को आपने देखा होगा। रात्रि में जब बल्ब का तेज प्रकाश होता है तो उसे देखकर वह अज्ञानी पतंगा उस पर मोहित हो जाता है, और उसे पाने को लिये उस पर झंपापात करने लगता है। ज्योंही वह बल्ब पर गिरता है, त्योंही उसके उष्ण प्रकाश से मूर्च्छित हो कर जमीन पर गिर पड़ता है, कुछ क्षणों पश्चात् जब उसकी मूर्च्छा दूर होती है तब वह पुनः उसी बल्ब के प्रकाश को पाने के लिए उस पर झंपापात करने लगता है, उस समय वह यह नहीं जान पाता कि इसी पर पूर्व में झंपापात किया था तथा इसकी उष्णता से मूर्च्छित हो कर गिर पड़ा था। वह अज्ञानी बार–बार बल्ब पर झंपापात करके अपने जीवन से हाथ धो बैठता है।

सुज्ञ माने जाने वाले इस मानव को उस पतंगिये के इस हाल पर तरस आती होगी।

सज्जनो ! वह तो नासमझी के कारण से अपने जीवन को खो बैठता है पर समझदार कहलाने वाले मानव का क्या हाल हो रहा है ? कहीं वह भी तो एसी अज्ञानता नहीं कर रहा है ? रूप में आसक्त मानव भी अपना भान खो बैठता है, हित–अहित के विवेक से विकल हो उठता है, उसकी प्रतिभा कुंठित हो जाती है। रूपासक्ति उसके इसी जीवन को ही नहीं, जन्म–जन्मान्तर को बरबाद कर देती है। बौद्ध धर्म के सुत्तपिटक में भी इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है :

पतन्ति पज्जोत–मिवाधि–पातका,
दिट्ठे सुत्ते इति–हेके निविट्ठा।।

जिस प्रकार पतंगे जलते प्रदीप के रूप से आकर्षित होकर, उस पर झंपापात करते हुए अपना प्राणान्त कर देते हैं। उसी प्रकार दृष्ट एवं श्रुत वस्तुओं

के व्यामोह में फंसकर अज्ञ जन भी अपने जीवन का पतन कर लेते हैं। रूपासक्ति मानव को किस प्रकार पतन की ओर ढकेलती है, इसके लिए एक छोटी सी घटना का उल्लेख जरूरी है :

रूप का लोभी एक श्रेष्ठी पतंगियों की तरह ही रूप के मोहक जाल में फंसा हुआ था। उसकी दृष्टि सुन्दर से सुन्दर रूप को देखने के लिए उत्कण्ठित रहती थी। अपनी पत्नी के रूप पर तो वह इतना अधिक आसक्त था कि उसका ही रूप सर्वाधिक सुन्दर मानता था। अधिकांश समय उसका मस्तिष्क सुन्दर–सुन्दर रूपों की ही कल्पना किया करता था–मेरी पत्नी का रूप कितना सुन्दर है ?

एक बार उसकी पत्नी के मुंह पर भयानक फोड़ा हो गया, जिससे उसका रूप भी विकृत बन गया। फिर भी श्रेष्ठी के मन में यह आसक्ति जमी हुई थी कि मेरी पत्नी बहुत सुन्दर है। रात–दिन इन्हीं विचारों में घुलते–घुलते आयुष्य–बंधन का समय आ गया। उस समय भी उसके यही विचार चल रहे थे–अहो, मेरी पत्नी कितनी रमणीय, प्रिय, सुन्दर है। इन्हीं विचारों के मध्य में श्रेष्ठी ने आयुष्य–बंधन पूरा किया और मरकर अपनी पत्नी के फोड़े में ही कीड़े के रूप में जन्म ले लिया।

बंधुओ ! सोचिये अपने–अपने दिलों में रूप के भयंकर परिणामों को। कहां तो उन्नत मानव जीवन के साथ श्रेष्ठी को भौतिक तत्त्वों की समुपलब्धि थी और कहां उसके जीवन का पतन हो गया। मानव जीवन को छोड़कर एक किलबिलाते कीड़े के रूप में जन्म लेना पड़ा। अब श्रेष्ठी न मालूम कितने भवों तक संसार में भ्रमण करेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

रूपासक्ति मानव को कहां से कहां तक पहुंचा देती है। प्रागैतिहासिक घटनाएं इस बात की साक्षी हैं। रावण और मणिरथ भी तो रूप में ही आसक्त हुए थे। सती सीता के रूप पर आसक्त हो रावण ने अपनी सोने की लंका जला डाली। सारी ऋद्धि और समृद्धि ही नहीं गई, अपितु उसे अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा। यही हाल मणिरथ का हुआ था। जिस छोटे भाई युगबाहु को वह इतना अधिक चाहता था कि अपने बाद उसे ही राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था, किन्तु सती मदनरेखा के रूप को देखकर मणिरथ बेभान हो गया। उसके हृदय में रूपासक्ति की ऐसी विस्फोटक आग सुलग गई थी कि जिसको बुझाने के लिए रूपासक्त मणिरथ ने अपने प्रिय भाई को भी छल–बल के द्वारा खत्म कर डाला। इतने पर भी रूपासक्ति की आग शांत न हो पाई। अन्ततः उस आग ने स्वयं मणिरथ को भी खत्म कर डाला। इतिहास ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाओं से भरा पड़ा है।

४८. सुगंध-दुर्गंध में आसक्ति भाव

चक्षु इन्द्रिय के बाद तीसरी घ्राण इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय गंध से संबंधित है। पुद्गलों के परिवर्तन से कोई पदार्थ सुगंध के रूप में, तो कोई पदार्थ दुर्गन्ध के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। सुगन्धित पदार्थों में ऐन्द्रिक रमण संसार को बढ़ाने वाला होता है, दुर्गन्धित पदार्थों से घृणा भी आत्मा के पतन का कारण बनती है।

संसार के समस्त पौद्गलिक पदार्थ परिवर्तनशील हैं। पुद्गलों के परिवर्तन से सुगंध दुर्गन्धमय और दुर्गन्ध सुगन्धमय हो जाती है। अज्ञ मानव इस पौद्गलिक परिवर्तन के तथ्य को न समझकर सुगन्धित पुद्गलों में आसक्त बन जाता है, यह आसक्ति भाव भी उसके जीवन को खत्म करने वाला बन जाता है। घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर कस्तूरी मृग कस्तूरी की सुगंध में आसक्त होकर जंगल में इधर से उधर दौड़ लगाता हुआ अपने जीवन से हाथ धो बैठता है।

४९ कटु परिणाम रसना का

जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर मानव खाद्य–अखाद्य के विवेक को न रखता हुआ, अभक्ष्य पदार्थों को भी खा बैठता है। जहां मानवों का आहार शाकाहारी होना चाहिए वहीं आज देश में मांसाहार का कितनी तेजी से प्रचार–प्रसार हो रहा है। अण्डे जैसे मांसाहारी तत्त्व को भी शाकाहार बतलाकर लोगों को खिलाने का प्रयास किया जा रहा है। अण्डा निश्चित रूप से मांसाहार है। जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर ऐसे अभक्ष्य पदार्थ को खाने वाले अपने जीवन को पतन के अंधकूप में ढकेल देते हैं।

सही माने में सोचा जाय तो मानव का आहार मांस नहीं है। आपने कभी सुना या देखा होगा कि डॉक्टर लोग जब किसी मरीज के खून की बोतल चढाने लगते हैं तब सबसे पहले उसके खून की जांच की जाती है । मरीज के शरीर में रहे हुए रक्त और उसे दिये जाने वाले रक्त का मिलान हो जाय, तब ही उसके रक्त चढाया जाता है। यदि रक्त का मिलान न होने पर भी रक्त दे दिया जाता है तो घातक परिणाम उपस्थित कर देता है।

सज्जनो ! विचार करने की बात है कि जब मानव के रक्त का भी मिलान आवश्यक है तो जो पशुओं का बेमेल मांस है, वह मानव के लिये घातक सिद्ध न होगा ? मांसाहार परलोक में तो हानिकारक होता ही है किन्तु इस जीवन के लिये भी घातक सिद्ध होता है। सिद्धान्त की दृष्टि से मांसाहार नरक का हेतु बताया गया है।

जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर व्यक्ति अपने जीवन को किस प्रकार खो बैठता है, इसके लिये एक शास्त्रीय रूपक है :

एक सम्राट् के शरीर में भयंकर रोग पैदा हो गया। अनुभवी चिकित्सकों ने उनका इलाज करना प्रारम्भ किया। सही तरीके से इलाज होने पर सम्राट् का भयंकर रोग भी समाप्त हो गया। सम्राट् स्वस्थ हो गया। चिकित्सकों ने सम्राट को यह स्पष्ट हिदायत दी कि आपको अगर स्वस्थ रहना है तो आप कभी भी आम्रफल का सेवन न करें। आम्रफल आपके लिये अपथ्य है। जिस दिन भी आपने आम्रफल खा लिया, तो उत्पन्न रोग का कोई इलाज नहीं होगा। सम्राट् ने चिकित्सकों की बात ध्यान से सुनी और मन में यह निर्णय किया कि अब कभी भी आम नहीं खाऊंगा।

अपथ्य तत्त्व के न खाने से सम्राट् की स्वस्थता बढ़ने लगी। सम्राट् का जीवन शांति से व्यतीत होने लगा। बहुत वर्ष व्यतीत हो गए। एक दिन सम्राट् अपने प्रधान को साथ लेकर जंगल में भ्रमण करने के लिए निकले। घूमते–घूमते जब वे थक गए, तो विश्रांति के लिए किसी वृक्ष की छाया में बैठने की सोचकर एक वृक्ष की छाया में बैठे। संयोगवश वह वृक्ष आम का ही था। आम्रवृक्ष को देख मंत्री ने कहा–राजन् ! अपने को इस वृक्ष की छाया में नहीं बैठना है, हम दूसरे वृक्ष की छाया में चलें।

सम्राट् ने कहा–वृक्ष की छाया में बैठने में क्या है ? वैद्यों ने तो आम खाने से मना किया है, छाया में बैठने की तो मनाही नहीं है। सम्राट् उसी वृक्ष के नीचे बैठ गया। मंत्री भी सम्राट् के साथ वहीं बैठ गया। कुछ समय बाद सम्राट् की दृष्टि वृक्ष पर लटक रहे सुन्दर–सुन्दर, भीनी–भीनी सुगंध देने वाले आम्रफलों पर पड़ी।

राजा ने कहा–देखो मंत्रीवर ! कितने सुगंधित व सुन्दर फल हैं, कितने सुस्वादु और मधुर होंगे ये फल !

मंत्री ने कहा–राजन्! कुछ भी हो, आपके लिए तो ये अपथ्य हैं। आपको तो इन्हें खाने की बात भी नहीं सोचनी चाहिए। किन्तु सम्राट् आम्रफलों पर मुग्ध हो चुका था। पथ्य–अपथ्य की बातों की ओर उसका ध्यान नहीं गया।

सम्राट् बोला–अरे! अब तो बहुत वर्ष बीत चुके हैं, मेरी बीमारी भी बिल्कुल चली गई है। अब किसलिए पथ्य रखा जाए ? इतने में एक पका आम टूटकर सम्राट् की गोद में आ पड़ा। मैं कोई बहुत आम तो खा नहीं रहा हूं–यह कहते–कहते, मंत्री के बहुत मना करने पर भी सम्राट् उसे खाने के लिए उद्यत हुआ। अब भी मंत्री ने खूब समझाया पर जिह्वा के वश हुआ सम्राट् कहां सुनने वाला था ? आखिर उस आम को चूस ही लिया। अपथ्य पदार्थ के अन्दर जाते ही रोग भयंकर रूप से उभरा और सम्राट् की तत्काल मृत्यु हो गई। यह है रसनेन्द्रिय को वश में न रखने का परिणाम। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है–

अपत्थं अम्बगं भोच्वा, राया रज्जं तु हारए

अपथ्य आम को खाकर सम्राट् अपना राज और जीवन गंवा बैठा।

५०. दुर्गतिकारिका स्पर्शना

रसना के पश्चात् पांचवीं इन्द्रिय स्पर्शना है। स्पर्श सुखों में रमण, मानवीय जीवन को अन्दर से खोखला बना देता है। स्पर्श विषय मानव को क्षणिक समय के लिए सुखकारी महसूस हो सकता है, अन्ततः तो महादुःख देने वाला बनता है। उत्तराध्ययन सूत्र में ही प्रभु ने बतलाया है–

खण मित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा,
पगाम्म दुक्खा, अणिगाम–सुक्खा।
संसार मोक्खस्स, विपथ्ख भूया,
खाणी अणत्थाण–उकाम भोगा।

यह स्पर्श विषयक काम–भोग क्षणमात्र ही सुख देने वाले हैं जबकि दीर्घकाल तक दुःख देने वाले हैं। जिसमें स्वल्प सुख हों और बहुत दुःख हों, वे सुखदायी कैसे हो सकते हैं ? ये संसार को बढ़ाने वाले हैं, अनर्थों की खान हैं तथा मुक्ति के लिए शत्रु के समान हैं।

बंधुओ ! स्पर्शनेन्द्रिय में रमण करने वाला मानव कभी वास्तविक शांति प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इस स्पर्श–सुख में इतना अधिक आसक्त था कि मृत्यु के अंतिम क्षणों में भी पटरानी कुरुमति का नाम रटता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप चक्रवर्ती के विशाल वैभव को छोड़कर भयंकर दुःखप्रद सातवीं नरक का मेहमान बन गया।

महाशक्तिसम्पन्न हाथी भी इसी स्पर्श–शक्ति के वशीभूत होकर अपनी प्रबल शक्ति को गंवा बैठता है।

एक–एक इन्द्रिय पर आसक्ति भी महान् अनर्थ का कारण बन जाती है।

इसलिए आनन्दघनजी ने श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना के माध्यम से स्पष्ट कहा है :

सयल संसारी इन्द्रियारामी, मुनीगण आतमरामी रे।

ऐन्द्रिक विषयों में रमण करने वाला प्राणी संसार के भव–प्रपंच को बढ़ाता है।

५१. सुख पुद्गलों में नहीं, स्वयं में

सुख पौद्गलिक पदार्थों में नहीं है, स्वयं आत्मा में है। आत्मा वैभाविक अवस्था में रहती हुई पुद्गलों में सुख मान बैठती है। इन्द्रियां उन भौतिक तत्त्वों को पाने को उत्कंठित हो उठती हैं। इन्द्रियों के पीछे आत्मिक शक्ति काम करती है। कोई भी इन्द्रिय बाहरी तत्त्वों से अधिकाधिक सुख की प्राप्ति नहीं कर सकती। जिस इन्द्रिय को जिस विषय से सुख की अनुभूति होती है उस इन्द्रिय को उसी विषय से बार–बार संबंधित किया जाए तो वह विषय, सुख देने के स्थान पर दुःखप्रद बन जाएगा।

जिस कान मधुर गीत सुनने का रसिक है अर्थात् कर्मबद्ध आत्मा कान के माध्यम से गीत सुनकर सुखानुभूति करती है। यदि उसी गीत को उसे बार–बार सुनाया जाएगा तो वह गीत, जो सुख देने वाला था, उतना ही दुःख देने वाला बन जाएगा।

जिह्वा के माध्यम से प्राणी जिस मिष्टान्न को अधिक खाना चाहता है उसी मिष्टान्न को उसे बार–बार खिलाया जाएगा तो वह उसके लिए हानिकारक बन जाएगा। यही स्थिति सभी इन्द्रियों की है। आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से पौद्गलिक वस्तुओं से शाश्वत सुख की अनुभूति कभी नहीं कर सकती है। सुख बाहर नहीं, अन्दर है।

५२. साधना क्या उधार का धंधा है?

मानव का मस्तिष्क प्रत्यक्ष फल के लिए लालायित रहता है। वह प्रत्येक क्रिया का परिणाम देखना चाहता है। साधना का परिणाम भी वह चटपट और प्रत्यक्ष में प्राप्त करना चाहता है। वह उधार का धंधा पसंद नहीं करता, रोकड़–नगद का धंधा चाहता है। उसके सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि आत्मोत्थान के लिए की जाने वाली साधनाओं का परिणाम इसी जन्म में मिलेगा या भवान्तर में मिलेगा ? यदि साधनाओं का फल परलोक में ही मिलता है तो

वह उधार का धंधा है। यदि प्रत्यक्ष में उसका परिणाम प्राप्त नहीं होता तो उसके प्रति मानव का मस्तिष्क अभिप्रेरित नहीं होता। यह धारणा सही नहीं है कि साधनाओं का फल परलोक में ही मिलने वाला है। साधना उधार का धंधा नहीं है। वह नगद का व्यापार है। जितनी–जितनी और जिस–जिस रूप में साधना की जाती है, उसका फल भी उतने ही अंशों में प्राप्त होता है। जिस रूप में साधना की आराधना होती है उस रूप में उसका परिणाम भी यहां परिलक्षित होता है। साधना का सुफल भी यहां प्राप्त होता है और भवांतर में भी उसकी परम्परा भव्य फलप्रदायिनी बनती है। जिसने साधना के द्वारा इस जीवन को रमणीय बनाया, वह भवान्तर में भी रमणीयता को प्राप्त करेगा। तीर्थंकर देवों ने आत्मा के विकास के चौदह सोपान बताये हैं, जिन्हें आगम की भाषा में गुणस्थान कहते हैं। आत्मा अपने लक्ष्य की ओर ज्यों–ज्यों आगे बढ़ती जाती है त्यों–त्यों उसकी साधना के सुफल का प्रत्यक्ष में अनुभव होता जाता है। तेरहवें गुणस्थान में जब वह पहुंचती है तो उसे अनन्त–ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल–वीर्य और अनन्त चारित्र की प्राप्ति होती है। चौहदवां गुणस्थान आत्मा की सर्वोत्कृष्ट विकसित अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्मस्वरूप बन जाती है, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है। साधना का यह सुफल प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इस मानव–शरीर से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है। अनन्त आत्माओं ने अतीत काल में इस मानव–भव से परम पद की प्राप्ति की है, वर्तमान में भी विदेहादि क्षेत्रों में कर रही हैं और अनागत काल में भी परमपद प्राप्त करेंगी। अतः यह कहा जा सकता है कि साधना की आराधना उधार का धंधा नहीं, अपितु नगद का व्यापार है।

५३ वैज्ञानिक मार्ग

यह भलीभांति सिद्ध है कि आत्मा की समग्र उपलब्धियां मानव–भव में ही प्राप्त होती हैं। इसके छूट जाने के पश्चात् आत्मा का अवस्थान मात्र रहता है। वहां कोई नवीन उपलब्धि नहीं होती। इसलिये मानव–भव में प्राप्त अध्यात्म मार्ग को वैज्ञानिक मार्ग की संज्ञा दी गयी है। वैज्ञानिक मार्ग का तात्पर्य भौतिक विज्ञान का मार्ग नहीं है। लेकिन भौतिक विज्ञान की प्रयोगशालाओं में जैसे उपलब्धि प्रत्यक्ष की जाती है वैसे ही आध्यात्मिक जीवन की प्रयोगशाला में जो–कुछ भी आंतरिक उपलब्धियां साधक को प्राप्त होती हैं, उनको वह सार्थक रूप में देखता हुआ चला जाता है। भौतिक विज्ञान की उपलब्धियां बाह्य होती

हैं अतएव अन्य व्यक्ति भी उन्हें देख सकते हैं, जबकि आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धियां आन्तरिक होती हैं अतएव अन्य व्यक्ति उन्हें नहीं देख पाते। साधक स्वयमेव उनका अनुभव करता चला जाता है। आध्यात्मिक शक्ति का स्वरूप ही इस ढंग का है कि वह बाहर निकाल कर नहीं बताई जा सकती है। बड़े से बड़ा विद्वान अपनी विद्वत्ता के अनुभव को हथेली पर निकाल कर नहीं दिखा सकता। आध्यात्मिक जीवन की स्थिति भी ऐसी ही है। यदि मानव आध्यात्मिक जीवन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करे और प्रारम्भ से ही अपनी साधना के सूत्र को सक्रिय बनावे तो कठिनाइयों के बावजूद वह एक दिन सफलता की भूमिका पर अवश्य पहुंच जाता है।

५४ कोमल मस्तिष्क पर शिक्षा का भार

प्राचीन काल के सुज्ञ शिक्षक एवं संरक्षक बालक के हित की दृष्टि से शिक्षण–कार्य की 'व्यवस्था' करते थे। बालक के मस्तिष्क के कोमल तन्तु जब तक अध्ययन करने में सक्षम न बन जाते तब तक वे बालक पर शिक्षा का भार नहीं डालते थे। योग्य वय में, योग्य समय पर किया गया कार्य फलीभूत हुआ करता है। अपरिपक्व स्थिति में डाला गया भार प्रतिभा को कुण्ठित कर देता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसका प्रारम्भ सुधर जाता है उसका अगला जीवन भी सुधर जाता है। जिसका प्रारम्भ बिगड़ जाता है उसकी सारी जिन्दगी बिगड़ जाती है। हलुवे की चासनी प्रारम्भ में बिगड़ गई तो हलुवा बिगड़ जायेगा। वैसे ही जीवन की चासनी प्रारम्भ में बिगड़ गई तो पूरी जिन्दगी बिगड़ जाती है। अतएव आरम्भिक अवस्था में विशेष ध्यान देना चाहिए।

प्राचीन काल में मनोवैज्ञानिक आधार पर शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य जीवन को संस्कारी बनाना होता था, धनोपार्जन नहीं। आज के युग में धन की लालसा के कारण विचित्र दशा बन रही है। आज के बालक धन कमाने की मशीन जल्दी से जल्दी कैसे बनें, इसी भावना से उन्हें कोमल–वय में स्कूलों में प्रविष्ट कराया जाता है। वहां उन पर इतना भार लाद दिया जाता है कि उनका कोमल मस्तिष्क क्षत–विक्षत हो जाता है। कोमल वय में अधिक भार डालना उनके जीवन को दबोचना है। माता–पिता को इस विषय में गम्भीरता से सोचना चाहिए।

५५ उपदेष्टा समदृष्टा होता है

हितोपदेशक वीतराग देव समदर्शी होते हैं। वे सबको समान रूप से हितोपदेश सुनाते हैं। वे आशंसारहित होते हैं अतएव जिस भावना से सम्राट्, चक्रवर्ती, राजा और श्रीमन्तों को उपदेश देते हैं, उसी भावना से तुच्छ, दीन–हीन, अनाथ को भी धर्मोपदेश प्रदान करते हैं। उनके यहां सम्पन्न–विपन्न का भेद नहीं होता, स्त्री–पुरुष का भेद नहीं होता, पुण्यशाली या पुण्यहीन का भेद नहीं होता। वे सबको एकान्त हितकारी उपदेश समभाव से प्रदान करते हैं। आगम में कहा है–

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।।

उपदेष्टा अनुग्रह बुद्धि से जैसे पुण्यशाली सत्ता–सम्पन्न को उपदेश देते हैं वैसे ही तुच्छ–रंक को भी उपदेश देते हैं।

५६ मानव सोचें

कर्मबद्ध आत्मा चौरासी लाख जीव–योनियों में परिभ्रमण करती रहती है परन्तु मानव–तन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी परम विश्राम की विधि उसे सुलभ नहीं है। आत्मविकास का मानव–जीवन के साथ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध जुडा हुआ है। जितना भी विकास दृष्टिगत होता है, वह चाहे भौतिक क्षेत्र में हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में, वह मानव–तन से ही सम्भव हो सका है। अन्य जीवनों में विकास का यह अवसर नहीं है। ऐसा सुन्दरतम मानव–जीवन जिन्हें उपलब्ध है, वे इस सम्बन्ध में समग्र दृष्टिकोण से सोचें कि किस प्रकार वे अपने जीवन का सर्वोच्च विकास उपलब्ध कर सकते हैं।

५७ चातुर्मास कल्प

शास्त्रीय मर्यादानुसार जैन मुनियों के लिये जिन कल्पों का विधान किया गया है उनमें चातुर्मास कल्प एक महत्त्वपूर्ण कल्प है। शास्त्र में निर्दिष्ट है कि मुनि वर्ष के आठ मास पर्यन्त संयम और तप से आत्मा को भावित करता

हुआ ग्रामानुग्राम विचरण करे। जैसे बहता हुआ पानी निर्मल होता है वैसे ही विचरण करता हुआ मुनि भी अनासक्त, अप्रतिबद्ध और निर्ममतत्व होने के कारण निर्मल बना रहता है। अधिक समय तक एक स्थान पर रहने से ममत्व पैदा होने की सम्भावना रहती है। उसको टालने के लिये मुनि को अप्रतिबद्धविहारी होना चाहिए। जिस संयम की साधना और रक्षा हेतु शेष काल में विहार की अनुज्ञा है, उसी संयम की साधना और रक्षा हेतु ही चातुर्मास काल में एक स्थान पर रहने की भी अनुज्ञा है। जावोत्पत्तिविशेष होने के कारण गमनागमन द्वारा उनकी विराधना टालने के लिये चातुर्मास कल्प में मुनियों को एक स्थान पर रहने का शास्त्रीय निर्देश है।

इस कल्प का उद्देश्य मुनियों की आत्मसाधना तो है ही परन्तु इसके साथ ही संघ, तीर्थ, समाज और सर्वसाधारण के कल्याण की भावना भी इसमें सन्निहित है। मुनि जहां चातुर्मास करें, वहां की जनता को धर्माराधना की प्रेरणा करते हैं। सर्वसाधारण जनता को अवलम्बन की आवश्यकता होती है। मुनियों के अवलम्बन से जनता में धार्मिक भावनाएं जागृत होती हैं। धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और उनकी प्रेरणा से जनता का नैतिक और आत्मिक धरातल समुन्नत हेाता है। प्रभु महावीर की शासन व्यवस्था बहुत ही उत्तम कोटि की है। इसमें व्यक्तिगत कल्याण के साथ ही साथ समष्टि का कल्याण भी सन्निहित है। इसी दृष्टिकोण से चातुर्मास कल्प जहां मुनियों के लिए आत्मकल्याण का साधक है, वहीं संघ एवं समाज के लिए भी अत्यंत हितावह और कल्याणकारी है। साधु–संत आत्मकल्याण के साथ ही सर्वसाधारण को बिना किसी भेदभाव के आशंसारहित होकर, एकान्त परमार्थ दृष्टि से उपदेश देकर उनके जीवन को संस्कारित करने का प्रयत्न करते हैं। वे स्वयं भी संयम मार्ग की आराधना करते हैं और अन्य को भी संयम मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं।

५८. तप से शुद्धि

जिस प्रकार आग में तप कर सोना निखर उठता है, उसी तरह तपस्या की आग में आत्मा का मैल जल जाता है और वह शुद्ध स्वर्ण की तरह निखर उठती है। आत्मा के विकारों को जलाने के लिए तप की आवश्यकता है। यह आत्म–शुद्धि का अनिवार्य अंग है। जिस प्रकार शरीर के रोगों का उपचार प्रारम्भ करने से पूर्व वैद्य विरेचन (जुलाब) देकर पेट की शुद्धि करता है, ऐसा करने के बाद ही औषधि अपना प्रभाव प्रकट करती है, अन्यथा वह निरर्थक सिद्ध होती है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के वैद्य प्रभु महावीर ने आत्मशुद्धि के लिए प्रारम्भिक उपचार के रूप में तप का प्रतिपादन किया है। आध्यात्मिक शुद्धि के लिए भूमिका के रूप में तप की आवश्यकता है। तप के माध्यम से भूख की परतंत्रता मिटती है, शरीर की आसक्ति घटती है और भावनाओं में निर्मलता आती है। यहीं से आध्यात्मिक शुद्धि की भूमिका शुरू होती है। दोषों को हटाने की क्षमता आती है। कषायों को शमन करने की योग्यता प्रकट होती है। आत्मा की आर्द्रता, कोमलता, स्निग्धता और सरलता पैदा होती है जिससे वह धर्म और मोक्ष रूपी अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ बनती है।

जिस मिट्टी में आर्द्रता और मृदुता नहीं है, उसमें कोई अंकुर नहीं फूट सकता। अतएव चतुर किसान बीज बोने से पहले भूमि की आर्द्रता की अपेक्षा रखता है। मिट्टी के मुलायम होने पर ही वह बीज वपन करता है अन्यथा बीज के व्यर्थ चले जाने की आशंका रहती है। इसी तरह धर्म और मोक्ष के अंकुर को यदि आप प्रकट करना चाहते हैं तो पहले आत्मा को सरल, आर्द्र और सुकोमल बनाना चाहिए। तप के द्वारा यह भूमिका प्राप्त होती है तथा इस स्थिति को प्राप्त करने में ही तप की सार्थकता है।

५९. समीक्षण में अवलोकन प्रभु का

स्वयं प्रभु महावीर ने लोक का अवलोकन समीक्षण दृष्टि के साथ किया है। सूत्रकृतांग सूत्र के वीरस्तुति नामक अध्ययन की गाथा में बतलाया है–

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसाय जे थावर जेयपाणा।
से निच्च निच्चेहिं समिक्ख पन्ने दीवे व धम्मं समियं उदाहु।।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, प्रज्ञापुरुष प्रभु महावीर ने ऊर्ध्वलोक, अधःलोक, तिर्यक्लोक में स्थित त्रस एवं स्थावर जीवों की अनित्यता का समीक्षण कर, दीपक के समान धर्म को व्याख्यायित किया।

बन्धुओ ! प्रभु के द्वारा सही धर्म की प्ररूपणा भी समीक्षण दृष्टि के आधार पर ही हुई है। जब तक अंतरंग दृष्टि से राग–द्वेष का मनोमालिन्य नहीं हटता, विचारों में समताभाव नहीं आता, तब तक धर्म की यथार्थ विवेचना नहीं हो सकती।

प्रभु ने स्पष्ट कहा है –

"पन्ना समक्खिए धम्मं" हे पुरुष ! प्रज्ञा से धर्म का समीक्षण करो। समता के धरातल पर ही बाह्य एवं अंतरंग का अवलोकन करना है। यह स्थिति ही समीक्षण ध्यान की कोटि में आती है। इस सम्यक् अवलोकन के लिए शरीर की बाह्य और भीतरी, दोनों ही प्रकार की जितनी भी संधियां हैं, उनको झुकाना होगा। बाह्य और अंतरंग दोनों ही संधियों से जब समीक्षणपूर्वक नमन होगा तब निश्चित रूप से सभी पापों का नाश हो जाएगा।

६०. समीक्षण का प्रभाव

साहस और धैर्य के साथ की जाने वाली प्रगति एक दिन परिपूर्णता को प्राप्त कराने वाली होती है।

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने घातिक कर्म की क्षपणा के लिए, ज्ञानशक्ति की परिपूर्णता के लिए, वर्षों तक साधना की थी। समीक्षण दृष्टि से अंतरंग और बहिरंग को निहारा। जीवन के कण–कण से कषायों का विलगीकरण कर डाला। आत्मा का परिपूर्ण शोधन किया। ज्ञान का अभिनव आलोक जगमगा उठा। शांति और समता का स्रोत प्रवाहित हुआ जिसका अनूठा प्रभाव था कि प्रभु के सान्निध्य में जन्मजात शत्रु सर्प और नेवला, शेर और बकरी भी प्रेम से निर्वैर भाव से बैठते।

ऐसी साधना, प्रत्येक साधनाशील साधक कर सकता है। लेकिन जो साधु साहस और धैर्य का अवलम्बन न लेकर चापल्य वृत्ति वाला बन जाता है, वह साधक कभी भी उन्नत दशा को प्राप्त नहीं कर सकता।

उदाहरण के रूप में, एक स्थल पर मनुष्य पहुंचा जहां पर हीरों और कंकरों का ढेर लगा हुआ था, उसमें से कुछ भी ग्रहण करने की उसको छूट थी। इतना होने पर भी वह व्यक्ति उसमें से रत्न न लेकर कंकर उठाने लगता है, तो ऐसे व्यक्ति को आप क्या समझेंगे ? मूर्ख ही तो समझेंगे ना ! सज्जनो ! यह तो पौद्गलिक तत्त्व से सम्बन्धित बात हुई। किन्तु जो आत्मा साधु जीवन स्वीकार कर लेती है, उस आत्मा को आध्यात्मिक जीवन का अद्भुत खजाना हस्तगत हो जाता है। वह इससे इच्छानुसार बहुमूल्य रत्नों के तुल्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि विविध प्रकार के रत्नों को प्राप्त कर सकता है। जो रत्न क्षणिक नहीं, शाश्वत शांति प्रदान करने वाले होते हैं।

६१. समीक्षण साधना साधु जीवन में

आध्यात्मिक रत्नों का संग्रहण गृहस्थ जीवन में उतना नहीं हो पाता, क्योंकि गृहस्थ जीवन में मनुष्य के सामने कई प्रकार की झंझटें, समस्याएं रहती हैं। उनमें भी मूलभूत आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए उसका मस्तिष्क दिन–रात तना रहता है। लेकिन साधु जीवन में ऐसी कोई स्थिति नहीं रहती। उसके समक्ष मात्र आध्यात्मिक साधना का ही उद्देश्य रहता है। वह सभी प्रकार के चिन्तन से विप्रमुक्त रहता है। एक समय का भोजन भी मिलेगा या नहीं, वह चिंता भी उसे नहीं रहती।

आत्मा को मलिन बनाने वाले पांचों आश्रवों का निरोध होता जाता है। बद्ध कर्मों का क्षय करना एवं अध्यात्म का जागरण ही चलता रहता है। आत्मा के भीतर में विद्यमान अमूल्य रत्न परमात्मा स्वरूप को प्रकट करना है।

इतना सब–कुछ होते हुए भी जो साधक साधनाशील जीवन में अमूल्य रत्नों का चयन नहीं करता है, समीक्षण पद्धति से जीवन का संशोधन नहीं करता है, किन्तु अपने जीवन में कषायों के पत्थरों को एकत्रित करता रहता है। तंत्र–मंत्र, जादू–टोना आदि सांसारिक कार्यों में रच–पच जाता है, सत्कार, सम्मान का कामी बन जाता है। ऐसा साधक कंकरों से युक्त रत्नों के ढेर में से पत्थरों को ही एकत्रित करता रहता है।

अविनाशी लक्ष्य से हटकर विनाशी तत्त्व की ओर मुड़ जाता है। उसकी वृत्ति मोक्ष प्राप्ति से हटकर संसार की ओर गति करने लगती है। उसकी साधना संसार को घटाने वाली न बनकर उसे बढ़ाने वाली होती है। ऐसा साधु, साधु–जीवन की भूमिका पर नहीं रहता। ऐसे साधकों के जीवन से कभी भी विलक्षण प्रभाव नहीं पड़ता। जो साधु अभी तक आत्मसमीक्षण में न लगकर, मंत्र–तंत्र में पड़ा है, उसके जीवन में अमूल्य रत्नों का विलक्षण प्रकाश नहीं होने से वह दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकता है?

६२. समीक्षण साधना प्रभु के जीवन में

प्रभु महावीर का जीवन अलौकिक रत्नों के तीव्र प्रकाश से जगमगा रहा था जिसका प्रभाव कोस, दो कोस नहीं, अपितु 100 कोस की दूरी तक निरंतर फैल रहा था। उनके सामने शेर के मुख के नीचे ही बकरी निर्भयता के साथ बैठती थी।

भगवान ने यह जीवन्त अलौकिक शक्ति जिस शरीर के माध्यम से पाई, वह शरीर कोई आकाश से नहीं टपका था और ना ही कोई पाताल से निकला था। जिस प्रकार आज मानव का शरीर माता की कुक्षि से बाहर आता है, उसी प्रकार प्रभु महावीर का शरीर भी माता की कुक्षि से बाहर आया था। अर्थात् आप लोग जैसे जन्मे, वैसे ही प्रभु भी जन्मे थे। उनकी विशिष्ट पुण्यवानी होने से शरीर की रचना में कुछ विशेषता थी, मूल अंगों में कोई परिवर्तन नहीं था।

दीक्षा लेने के बाद तो भोजन की सरसता भी छूट गई थी। कभी–कभी तो बड़ी तपस्या के पारणों में तीन दिन के बासी उड़दों के बाकले का आहार किया था।

यदि आपको कदाचित् तपस्या का पारणा करना हो या वैसे ही आपके सामने उड़दों के बाकले रख दें तो क्या आप भोजन कर लेंगे, कहीं क्रोधित तो नहीं हो जाएंगे ? जहां भगवान महावीर ने समभाव की साधना के साथ तीन दिन के बासी बाकलों से भी दीर्घ तपावधि का पारणा कर लिया था क्योंकि उनका ध्यान समीक्षण था। जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थों को यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में देखा था, जिन्हें पौद्गलिक परिवर्तन का स्पष्ट विज्ञान ज्ञात था, जिनके अणु–अणु में आनंद रस की झलक थी, ऐसी शक्ति को कितना ही दबाने का प्रयास किया जाए, वह प्रकट हो ही जाती है। इत्र की शीशी का मुंह बन्द हो और आप उसे जेब में दबाकर बैठ भी जाएं तथापि उसकी खुशबू आए बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार जब काम, क्रोध, मद, मोह की गंदगी सर्वथा हट जाती है, आन्तरिक शक्ति का समुद्र प्रवाहित होने लगता है, तो उससे सहज ही जनमानस प्रभावित होने लगता है। ठीक इसी प्रकार प्रभु के जीवन में से भी काम, क्रोध, मद, मोह का विलगीकरण हो चुका था। आत्म–शक्ति का निर्झर प्रवाहित होने लगा था, परिणामस्वरूप जनमानस–क्षेत्र सरसब्ज होने लगा था। जनमानस ही नहीं, पशु–पक्षी जगत् भी प्रभु के आदर्शमय जीवन से प्रभावित था।

यह सब, देखा जाए तो, समीक्षण दृष्टि का ही मूल प्रभाव था। प्रभु ने अपनी दृष्टि इतनी समतामय बना ली थी कि वे सदा समता भाव के साथ अखिल विश्व का ईक्षण दर्शन करते थे। अच्छी या बुरी वस्तु पर राग–द्वेष की उत्पत्ति नहीं होने देते थे। समीक्षण पर जोर देते हुए प्रभु ने कहा है–

तम्हा उ मेहावी समिक्ख धम्मं

हे मेधावी ! धर्म का समीक्षण करो। वस्तु स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। अतः विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के प्रति, चाहे वे जीव रूप में हों या अजीव रूप

में, उनका सम्यक् प्रकार से, समता के साथ ईक्षण करो। जब इस प्रकार ईक्षण की प्रवृत्ति बढ़ेगी तो अवश्य ही एक दिन सम्पूर्ण विश्व का समीक्षण कर सकोगे और वह समीक्षण तभी सम्भव है जब अन्तः का निरन्तर संशोधन व समीक्षण चलता रहेगा।

६३. समीक्षण करो : अंतरंग का

जीवन का चरम लक्ष्य पाने के लिए अंतरंग के जीवन का समीक्षण करना होगा। अंतरंग में, जहां ज्ञान की पवित्रता और निर्मलता रही हुई है, वहीं पर अज्ञान की अशुद्धि भी रही हुई है। इसी अंतरंग में जहां ज्ञान का कल्पतरु है, वहीं अहंकार का विषैला वृक्ष भी है, इसी प्रकार के द्वन्द्वात्मक तत्त्व एक ही स्थल पर समाए हुए हैं। साधक को अपने अंतरंग का विलक्षण प्रज्ञा से ही समीक्षण करना होगा, सम्यक् प्रकार से वीक्षण करने के बाद ही संशोधन किया जा सकता है। जिस प्रकार कंकरभरे धान्य से संशोधन द्वारा कंकरों से धान्य अलग किया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्म की एकाकारता का समीक्षण कर सत्पुरुषार्थ के द्वारा उसका संशोधन करना चाहिए।

६४. वैभाविक परिणितियां

अनादि अनन्तकाल से विभाव की परिणितियां आत्मा के साथ चली आ रही हैं। ये वैभाविक वृत्तियां इस रूप में आत्मा के साथ सम्बद्ध हो चुकी हैं कि स्वयं आत्मा उन्हें अपना निजी स्वरूप ही मान बैठी है। उन विभाव की परिणितियों से स्वत्व का विलगीकरण मानव जीवन में ही पूर्णतः हो सकता है। यह विलगीकरण तभी सम्भव है जबकि मानव इस दिशा में गतिशील बने। कितना ही लम्बा रास्ता हो, यदि उस दिशा में चलने वाला व्यक्ति धीरे–धीरे ही क्यों न चल रहा हो, तथापि दीर्घ कान्तार को अन्ततः पार कर ही लेता है। विभाव की परिणितियों के विलगीकरण का पुरुषार्थ यदि गतिशील है तो एक दिन आत्मा अपने स्वत्व को परिपूर्ण प्रकट कर सकती है। वैभाविक वृत्तियों में ही रहने वाला प्रेय मार्ग का राही कभी भी शांति की अनुभूति नहीं कर पाता।

६५. अंतरंग का विज्ञान, बाह्य जीवन से

बोध पाने का सम्यक् अवसर/वास्तविक समय मनुष्य जीवन में मिला है। मनुष्य जीवन की ही ऐसी विशेषता है कि जिसमें आत्मा समग्र विश्व का विज्ञान और इस विज्ञान के अन्तर्मन आत्मा और परमात्मा का विज्ञान भी प्राप्त कर सकती है। इस मनुष्य तन को यह आत्मा अंगीकार करके चल रही है परन्तु मनुष्य जीवन के योग्य कर्तव्य कर्म को जानने की बहुत कम कोशिश करती है। मानव दो हाथ, दो पैर, नेत्र, कर्ण, नाक, जिह्वा और स्पर्शनेन्द्रिय के साथ सर्वत्र परिलक्षित होता है। उन संचालित अवयवों से उसकी भीतरी शक्ति का पता लग सकता है कि वह स्वयं अपने–आप में क्या है और बाहर में किस रूप में है। बाहरी वस्तु को बाहर से देखने पर बाहर का स्वरूप ही ज्ञात हो सकता है। भीतर का अनुमानतः कुठ ज्ञान किया जा सकता है। व्यक्ति आम के मौसम में जब आम देखता है तो यह ठीक है या वो ठीक है, इसकी पहचान ऊपर के आकार–प्रकार से ही होती है। आम के ऊपरी स्वरूप को ठीक तरह से पहचान करके वह उसको खरीदता है और अनुमान करता है कि इसका आकार–प्रकार ऊपर का ठीक है तो इसमें रस भी मीठा होगा और अच्छा होगा। बहुलता उसी की रहती है और जैसा वह अनुमान करता है वैसा ही आम का रस निकल जाता है। बाहर की प्रक्रिया, बाहर का आकार–प्रकार, उसके भीतर की वृत्ति को प्रायः प्रकट करने वाला बनता है। मनुष्य की आकृति जिस रूप में आज दृष्टिगत हो रही है उस आकृति का ज्ञाता, जिसने मनुष्य जीवन का विज्ञान पढ़ा है, मनुष्य जीवन सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं को जाना है, तो वही पुरुष अपने अंतरंग जीवन को व्यवस्थित कर सकता है।

६६. अमूल्य मानव तन

जिनका ध्यान, जिनके विचार मनुष्य शरीर के भीतरी तत्त्वों की तरफ नहीं हैं और बाहरी पदार्थों को जानने में ही सारी शक्ति लगाते हैं, वे मानव की पहचान सही रूप से नहीं कर पाते हैं और जहां मानव की पहचान नहीं होती, वहां मानव के साथ क्या व्यवहार करना चाहिए, इसका भी विज्ञान नहीं होता। वे बाहरी दृश्यों को ही लेकर चलते हैं और वर्तमान जीवन के बहुत मूल्यवान क्षण, जीवन की बहुमूल्य थाती, बहुमूल्य उपलब्धि वैसे ही गंवा देते हैं जिस प्रकार एक गंवार चिंतामणि रत्न को बिना पहचाने पत्थर समझ कर फेंक देता

है। चिन्तामणि रत्न की पहचान जौहरी ही कर सकता है। रत्न तो मूल्यवान ही है परन्तु एक दृष्टि से देखा जाए तो मानव तन मूल्यवान ही नहीं, अमूल्य है। इसका एक–एक अवयव भी कहीं सहज में उपलब्ध नहीं होता। इतने बड़े शहर में यदि कोई बाहर का व्यापारी आकर जीवित मनुष्य के दो नेत्र मांगना चाहे और कहे कि मुझे दो नेत्र चाहिएं और एक–एक नेत्र के दस–दस लाख रुपये देने को तैयार हो, तो कहिए, नेत्र देने वाले कितने व्यक्ति मिल जाएंगे ? क्या आप कुछ कह सकते हैं ? नजदीक से तो आवाज आई कि एक भी नहीं मिल पाएगा। क्यों ? मनुष्य के नेत्रों की दस लाख से भी अधिक कीमत है। और अधिक देने को तैयार हो जाय, तब तो मिल जायेंगे ? नहीं मिलेंगे।

एक दूसरा व्यापारी कदाचित् पहुंचा और वह चाहे कि मनुष्य की जिह्वा (जबान), जिससे वह बोलता है, चखता है, वह तालवे से लेकर सारी चाहिए और उसके लिए भी वह बीस लाख रुपये देने को तैयार है तो कोई देने वाला मिलेगा ? नहीं। इतने में तीसरा व्यापारी आया और वह चाहे कि आजकल कई व्यक्तियों के हार्ट कमजोर हो गए हैं, उनके लिए हार्ट चाहिए। यदि कोई जिन्दा मनुष्य हार्ट देता है तो दस अरब रुपये देने को तैयार है। क्या मिल सकेगा हार्ट देने वाला ? नहीं। तो अब कल्पना कीजिए। मानव जिसकी उपलब्धि को लेकर चल रहा है, उसका मूल्यांकन करिये। इन अवयवों की इतनी–इतनी धन राशि देने पर भी उन्हें देने वाला नहीं मिल सकता तो आज के मानव का मूल्यांकन किस रूप में किया जाय ? ऐसे अमूल्य मानव जीवन से अनन्त शक्तियों को जागृत करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

६७. गरीब कौन ?

कई भाई अपने अन्दर हीन भावों को लेकर चल रहे हैं कि हम गरीब हैं, हम कमजोर हैं, हमारे पास सम्पत्ति नहीं है और अमुक के पास धन है। मैं सोचता हूं कि यह भावना कहां से प्रवेश कर गई ? शरीर से भिन्न तत्त्वों का वह मूल्यांकन कर रहा है। चन्द चांदी के टुकड़ों को वह महत्त्व दे रहा है और उसके पीछे बहुमूल्य जिन्दगी का अवमूल्यन कर रहा है। क्या यही इस मानव तन में रहने वाली आत्मा का विज्ञान है। हर आत्मा को विवेक की आवश्यकता है। इस अमूल्य जीवन का यदि मानवता के धरातल पर सदुपयोग किया जाए और आध्यात्मिक धरातल पर अन्तर्शक्ति का समीक्षण किया जाए तो यह बाहरी सम्पत्ति, वैभव उसके चरणों में लोट–पोट हो जायेगा। वह ठोकर मारेगा तो भी

उसके साथ पड़ेगा। स्वर्ग का राजा इन्द्र भी नतमस्तक हो जायेगा। विश्व का वैभव एक तरफ, विश्व की सारी सम्पत्ति एक पलड़े में रख दी जाए और इधर मानव जीवन का मूल्य, मानव जीवन की गरिमा दूसरे पलड़े में रख दी जाये, तब भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती। इतना बहुमूल्य जीवन अन्य प्राणियों को उपलब्ध नहीं हुआ है। पशुयोनि में रहने वाले वे पशु, उनमें भी आत्मा है, परन्तु विवेक–ज्ञान नहीं। स्वर्ग की आत्मा शारीरिक दृष्टि से, सौन्दर्य की दृष्टि से असाधारण है, परन्तु जो क्षमता मानव तन में है वह उनमें नहीं है। नरक में रहने वाली अनेक आत्माएं इस मनुष्य तन का दुरुपयोग करके दण्ड भोग रही हैं, सजा भोग रही हैं। अतः अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति का मूल स्रोत यह मानव जीवन ही है। ऐसे जीवन में बाह्य तत्त्वों को महत्त्व देकर मन में हीन भावना नहीं लानी चाहिए।

६८. चकडोलर और संसार

संसार 'चकडोलर' के समान विभक्त है। 'चकडोलर' में चार पालखियां होती हैं, एक ऊपर, एक नीचे और दो मध्य में–आमने–सामने। संसार में भी चार गतियां हैं–नरकगति नीचे है, देवगति ऊपर है, तिर्यंच और मनुष्यगति मध्य में है। यह विश्लेषण बहुलांश की अपेक्षा से किया गया है। इन चार गति रूप संसार में अनन्तानन्त आत्माएं परिभ्रमण कर रही हैं। आत्मा का परम उत्कर्ष और मुक्ति की अवाप्ति मात्र मनुष्यगति में ही हो सकती है, इसलिए शास्त्रकारों ने दुर्लभता से प्राप्त होने वाले चार अंगों में से पहला अंग मानव जीवन बतलाया है। भौतिक ऋद्धि–समृद्धि से तो मानव जीवन से भी देव जीवन बहुत बड़ा है किन्तु देवता अध्यात्म में प्रवृत्ति नहीं कर पाते अर्थात् वे एक नवकारसी का तप भी नहीं कर सकते। मानव यद्यपि बाह्य वैभव में देवों की अपेक्षा अत्यल्प है, किन्तु अध्यात्म की प्रवृत्ति में वह सबसे आगे है। साधना के क्षेत्र में बढ़कर वह एक के बाद एक सोपानों को पार करता हुआ चरम लक्ष्य का वरण कर सकता है। ऐसे ही दुर्लभ तन को प्राप्त कर जिनेश्वर भगवंत, साधना के सोपानों पर अहर्निश बढ़ते ही चले गये। अन्ततः लक्ष्य को प्राप्त कर ही लिया। आज भी उन्हीं को आदर्श मानकर साधना के पथ पर बढ़ने का प्रयास करें।

६९. गुणगान के साथ आचरण भी

किसी भी तीर्थंकर का गुणगान करें, किन्तु जब तक उनके गुणों का प्रवेश जीवन में नहीं होगा तब तक स्व का उत्थान नहीं हो सकता। किसी ने व्यापार करने का ढंग सीख लिया, उसके गुर समझ लिए, इतने मात्र से उसे लाभ नहीं हो जाता। लाभ तो तब होता है, जब सीखे गये नियमों के अनुसार व्यापार में प्रवृत्ति करता है। इन व्यावहारिक बातों का तो आपको बहुत अच्छा विज्ञान है। इन्हें समझने–समझाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आपकी प्रज्ञा उस ओर तो बहुत तीव्रता से काम करती है। लेकिन उस प्रज्ञा का कुछ समीक्षण आप इधर भी करिये, इसी से जीवन का महत्त्व समझा जा सकेगा। तीर्थंकर भगवानों के गुणगान तक ही सिमित नहीं रहना है, अपितु उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलने का प्रयास करना है।

७०. तीर्थंकर भी मानव हैं

जिन तीर्थंकर भगवंतों का हम गुणगान करते हैं, वे भी तो मानव ही थे। इसी मानव तन में रह कर ही उन्होंने सत्पुरुषार्थ के बल पर ही परम साध्यता को प्राप्त किया था। मानव–मानव की अपेक्षा उनमें और हमारे में कोई अन्तर नहीं है। यही नहीं, जो पांच इन्द्रियां उनके थीं, वही पांच इन्द्रियां हमारे भी हैं। उनके तीन कान या चार आंखें नहीं थीं। शरीर की मौलिक रचना में भी कोई अन्तर नहीं था। इन सबकी समानता होते हुए भी, वे तो भगवान बन गये और हम अभी तक भक्त ही बने हुए हैं। उनकी क्रियावती शक्ति ने उनको उच्च स्थान पर पहुंचा दिया और हमारी क्रियावती शक्ति अभी तक भी हमको परमोन्नत अवस्था की ओर नहीं पहुंचा पाई है। अतः भव्यात्माओं को तीर्थंकर भगवंतों की तरह स्वात्म–जागरण हेतु भी निरन्तर सत्पुरुषार्थशील बनना चाहिए।

७१. उदासीनता : निष्क्रियता नहीं है

उदासीनता से कई निष्क्रियता अर्थ भी ले लेते हैं, जो योग्य नहीं है। निष्क्रिय व्यक्ति कभी भी आत्मोत्थान नहीं कर सकता। आत्मोत्थान क्रियावती शक्ति से ही होता है। साधना के क्षेत्र में उनकी निरन्तर प्रगति ही उनकी

क्रियावती शक्ति की परिचायक है। सिद्धान्त की भाषा में उट्ठाणे वा, कम्मे वा, बले वा, वीरिए, पुरिसक्कार परक्कमे वा–अर्थात् आत्मा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से सम्पन्न होती है। इन उत्थानादि के द्वारा ही भव्य साधक आगे बढ़ता है। गुणस्थान का आरोहण भी इन्हीं के द्वारा होता है। चवदवहें गुणस्थान में भी इन उत्थानादि रूप क्रियावती शक्तियों की प्रवृत्ति निरंतर चलती रहती है।

तीर्थंकर राग–द्वेष रहित होने से उनकी सभी क्रियाएं–उपदेश देना, विहार करना, उठना, बैठना, आहार ग्रहण करना आदि उदासीनतापूर्वक होती थीं। संसार की सभी आत्माओं के पास क्रियावती शक्ति है किन्तु इससे उनकी आत्मसिद्धि नहीं हो पा रही है। इसका क्या कारण है ? गहराई में उतरने पर आपको ज्ञात होगा कि आपकी क्रियावती शक्ति सही दिशा की ओर कार्य नहीं कर रही है। उसे योग्य दिशा की ओर नियोजित करना आवश्यक है।

७२. सिद्धात्मा भी निष्क्रिय नहीं है

बहुत लोग क्रिया शब्द से केवल कायिक हलन–चलन होना, इतना ही अर्थ करते हैं। इन हलन–चलन मात्र को क्रिया मानने वालों की दृष्टि में सिद्धात्मा निष्क्रिय बन जाती है। क्योंकि सिद्ध बनने से पूर्व ही काय योग का निरोध हो जाता है। काय योग ही नहीं, मन और वचन योग का निरोध भी हो जाता है। तीनों योगों में से किसी भी योग का सूक्ष्मतः भी परिस्पन्दन अवशेष नहीं रहता। इसलिए चौहदवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को अयोगी केवली कहा है। अतः सिद्ध अवस्था में तो मन–वचन–काय के होने का प्रश्न ही नहीं रहता। इतने मात्र से सिद्ध निष्क्रिय हो जाएं और उनमें किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं हो तो फिर कौन आत्मा होगी जो ऐसी सिद्ध अवस्था में जाना चाहेगी ?

षड्दर्शनों में एक वैशेषिक दर्शन भी आता है जो संख्या की दृष्टि से पांचवें नम्बर पर है। उस दर्शन की मान्यता है कि आत्मा मोक्ष में जाने के बाद बिलकुल निष्क्रिय हो जाती है, उपलखण्ड के समान हो जाती है। उसमें न सुख रहता है, न दुःख। वह दोनों ही अवस्थाओं से सर्वथा निरपेक्ष हो जाती है। उनकी इस अवधारणा पर किसी ने कहा है––

वरं वृन्दावने रम्ये, कोष्ट्रत्वमभिवांछितम्।
न तु वैशेषिकी मुक्ति, गौतमो गन्तुमिच्छति।।

वृन्दावन के जंगल में गधा बन जाना अच्छा है किन्तु गौतम द्वारा

प्रतिपादित वैशेषिक मुक्ति में जाने की कभी भी इच्छा नहीं होती।

सुज्ञो ! यदि सिद्धों में भी किसी भी प्रकार की क्रियावती शक्ति स्वीकार नहीं की जाएगी तो वह अवस्था करीब–करीब वैशेषिक दर्शन के अनुसार ही हो जाएगी। किन्तु जैन दर्शन में तो मुक्ति का विलक्षण रूप प्रतिपादित किया गया है। मुक्तिगत आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न हो जाती है। क्रिया शब्द से केवल हलन–चलन अर्थ लिया जाए तो इस दृष्टि से सिद्ध निष्क्रिय हैं, क्योंकि वे अयोगी हैं किन्तु उनमें स्वात्म–रमण क्रिया हर क्षण, हर पल हो रही है। स्वात्मा में भी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख के साथ ही अनन्त–अनन्त शक्तियों का निवास है। सिद्ध अपनी इस अनन्तता में रमण करते रहते हैं। अतः आत्मरमण क्रियावती शक्ति की अपेक्षा से सिद्धों को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार शरीर की अपेक्षा से वर्णादिक नहीं होने से उन्हें अरूपी कहा जाता है, फिर भी आत्मा का मौलिक रूप तो उनमें होता ही है, उसी प्रकार शरीर सम्बन्धी क्रिया न होते हुए भी आत्मरमण रूपी क्रिया तो सिद्धों में भी होती ही है।

७३. श्रावक तीर्थंकर नहीं बनते

उसी भव में तीर्थंकर बनने वाली भव्य आत्मा, माता के गर्भ में ही तीन ज्ञान से सम्पन्न होती है–मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान। जब वह दीक्षा ग्रहण करती है तब मनःपर्यव ज्ञान और हो जाता है। सभी तीर्थंकर सम्यक्त्व से सम्पन्न होते हैं। तीर्थंकर चौथे गुणस्थान से सीधे सातवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। श्रावक व्रत ग्रहण करना थोड़ा कायरता का सूचक है। जो आत्मा साधु जीवन अंगीकार नहीं कर पाती, जिसके साधु जीवन अंगीकार करने की स्थिति नहीं होती, वह आत्मा श्रावकत्व अंगीकार करती है। तीर्थंकर बनने वाली सभी आत्माएं अनन्त सत्त्व से सम्पन्न होती हैं। अतः उनकी कायरता का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। एतदर्थ ऐसी आत्माएं चतुर्थ गुणस्थान से सीधी सप्तम गुणस्थान में प्रवेश करती हैं।

७४. आप भी अनन्त सत्त्वसम्पन्न हैं

तीर्थंकर भगवन्तों की तरह हमारे भीतर भी अनन्त शक्ति का स्रोत है।

उस स्रोत को खोलने के लिए 'उट्ठिए नो परमायए' उठिए, अब प्रमाद करने का अवसर नहीं है। इस दुर्लभ मानव जीवन के अमूल्य क्षण बीतते चले जा रहे हैं। जो भी क्षण बीत चुका है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह वापस नहीं आने वाला है।

'जा जा वच्चइ, रयणी न सा पडिनियत्तइ' जितने दिन और रात्रियां बीत चुकी हैं, उनमें से कोई भी पुनः आने वाली नहीं हैं। आयुष्य के बीते हुए एक क्षण को भी संसार की कोई भी शक्ति वापस नहीं ला सकती। ऐसे अमूल्य क्षणों को व्यर्थ ही हाथ से मत जाने दीजिये। आपको चातुर्मास का भव्य प्रसंग प्राप्त हुआ है। संत और सतियों का सान्निध्य भी मिल रहा है। जहां गांवों में संत–सतियों को एक–एक दिन रखने के लिए भी लोग तरसते हैं, वहां आपको पूरा चातुर्मास–वह भी चार महीने का नहीं, अपितु पांच मास का। इस दुर्लभ संयोग को यों मत जाने दीजिये। श्रावण, भादवा मास में तो श्रावकगण वैसे ही धर्म–ध्यान का विशेष लाभ लेते हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवास, पौषध, दया आदि, जिसकी जिसमें रुचि हो, वह करना चाहिए। यह मानव जीवन मिला है। यदि कुछ किये बिना ही चले गए तो फिर बार–बार यह मिलने वाला नहीं है। अन्ततः पश्चात्ताप ही हाथ में रह जाएगा।

७५. कर्म पहले या आत्मा

कर्म की इस प्रकार की विचित्रता को देखकर सहज ही कुछ प्रश्न प्रस्फुटित हो उठते हैं कि अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्माओं से यह कर्म का सम्बन्ध कब से चला आ रहा है ? कर्म का पहले उद्भव हुआ या आत्मा का ? यदि कर्म का पहले उद्भव हुआ तो उसका आत्मा से सम्बन्ध क्यों हुआ, क्योंकि आत्मा उस समय विशुद्ध रूप में थी ? यदि विशुद्ध अवस्था में भी कर्म का सम्बन्ध हुआ माना जाए तो फिर सिद्धों में भी क्यों नहीं होता ? ऐसे अनेक प्रश्नों की लम्बी कतार कभी–कभी सामान्य मानव को झंकृत कर देती है। मैं अभी उन गंभीर विषयों की विशद चर्चा में न उतरकर आपको एक शास्त्रीय रूपक से उसका समाधान कर देता हूं।

भगवती सूत्र के प्रथम शतक के छठे उद्देशक में रोहा अणगार के प्रश्नों का वर्णन आता है। रोहा अणगार ने भगवान महावीर से अनेक प्रश्न पूछे थे, उनमें एक प्रश्न यह भी था–

पुव्विं भंते ! जीवा पच्छा अजीवा, पुव्विं अजीवा पच्छा जीवा ?

रोहा ! जीवा य अजीवा य पुव्विं पेते, पच्छापेते दोविए सासया भावा, अणाणुपुव्वि ?

पुव्विं भंते ! अंडए पच्छा कुक्कुडी ? पुव्विं कुक्कुडी पच्छा अंडए?

रोहा ! से णं अंडए कओ ?

भवयं ! कुक्कुडी कओ।

साणं कुक्कुडी कओ ?

भंते ! अंडया कओ।

एवामेव रोहा से य अंडए साय कुक्कुडी पुठिवे पेते पच्छापेते दो वि एएसासया एसा रोहा।

अर्थ : रोहा अणगार ने पूछा–भगवन् ! पहले जीव है, बाद में अजीव है या पहले अजीव है, बाद में जीव है ?

समाहित किया प्रभु ने रोहा अणगार के प्रश्न को–रोहा ! जीवाजीव में आनुपूर्वी भाव नहीं है। जीव, अजीव पहले भी हैं, पीछे भी। ये दोनों शाश्वत भाव रूप हैं।

रोहा अणगार ने जिज्ञासा का स्पष्ट समाधान पाने के लिए एक व्यावहारिक प्रश्न किया–भगवन् ! अंडा पहले है या कुक्कुटी ? कुक्कुटी पहले है या अंडा ?

भगवान् ने प्रतिप्रश्न कया–रोहा ! यह अंडा कहां से आया ?

रोहा अणगार–भगवन् ! कुक्कुटी से।

भगवान्–रोहा ! कुक्कुटी कहां से आयी ?

रोहा–भगवन् ! अंडे से।

अतः हे रोहा ! अंडे और कुक्कुटी में पहले या बाद में की स्थिति नहीं है। दोनों ही प्रवाह रूप से शाश्वत हैं।

भगवान ने बहुत ही सहज रूप में समाधान प्रस्तुत किया। जिस प्रकार अंडे एवं मुर्गी की उद्भूति के विषय में किसी को भी प्राथमिकता नहीं दी जा सकती, इन दोनों का सम्बन्ध अनादिकालीन होते हुए भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को विच्छिन्न किया जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। इस प्रकार की अनादिता के होते हुए भी इनका पारस्परिक सम्बन्ध विनष्ट हो सकता है। शाश्वत तत्त्वों में समूलतः उत्पादन–विनाश नहीं होता। चैतन्य तत्त्व शाश्वत है। अतः इसकी उत्पत्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। जब चेतना की उत्पत्ति ही नहीं होती, तो उसका अवसान भी नहीं हो

सकता।

७६. धन-लोलुपी

आज का धन–लोलुपी व्यक्ति किस प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का सेवन करता हुआ धन एकत्रित कर रहा है। धनार्जन की यह वृत्ति मानव से क्या–क्या अनीति और कुकृत्य करा डालती है, मुझे इसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में तो आप लोगों की बुद्धि बहुत ही पैनी एवं तीक्ष्ण बन रही है। जहां सरकारी असेम्बलियों, विधानसभा में कोई अनीति न होने पाए, इसके लिए नियम बनाए जाते हैं वहां आज का व्यापारी, अफसर या कोई भी धन–लोलुपी व्यक्ति उन नियमों से कैसे बचा जाय और किस प्रकार धन एकत्रित किया जाए, इसके लिए अनेक गलियें निकाल लेता है। आज सरकार ने किस प्रकार से नियमों का प्राकार बना रखा है, वह आपसे छिपा हुआ नहीं है। फिर भी मानव दो नम्बर के रास्तों से धन की अतृप्त लालसा को पूरी करने में जुटा हुआ है।

सुज्ञ आत्माओ ! यह सब प्रेय मार्ग है। ऐसे मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा को कर्मों से भारी बनाता है और चतुर्गति संसार में भटकता है।

७७. आत्मा का हल्कापन

आत्मा का मौलिक स्वभाव हल्कापन है। जिस प्रकार मोटे रूप में रुई हल्की और लोहा भारी लगता है। रुई ऊपर उठने लगती है और लोहा नीचे गिरने लगता है। इसी प्रकार आत्मा ज्यों–ज्यों कर्मों से हल्की होती जाती है, त्यों–त्यों ऊपर उठने लगती है, क्योंकि उसका चरम लक्ष्य ऊपर की ओर है। किन्तु ज्यों–ज्यों कर्मों से भारी होती जाती है, त्यों–त्यों वह पतन की ओर बढ़ने लगती है। आत्मा के ऊपर उठने का स्वभाव ही उसके हल्केपन का परिचायक है। किन्तु कर्मों का भारीपन उसे संसार में रुलाता है। आत्मा को ऊपर की ओर ले जाने के लिए श्रेय मार्ग पर चलना होगा। आत्मा का समीक्षण करना होगा। श्रेय मार्ग द्वारा ही आत्मा हल्केपन को प्राप्त करती है। श्रेय मार्ग को ही अट्ठारह पापों की निवृत्ति के रूप में प्रतिपादित किया है।

जो व्यक्ति 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' – अपनी आत्मा के

प्रतिकूल लगने वाला आचरण दूसरों के प्रति नहीं करता है, सभी आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रखता है, व्यवसायी कार्यों में भी कम से कम हिंसा, झूठ, चोरी आदि हों, इस विषय में सतर्कता रखता है, क्रोधादिक कषायों को दूर हटाने के लिए प्रयत्न करता है, ऐसा व्यक्ति श्रेय मार्ग पर चलता हुआ अपनी आत्मा को हल्की बनाता है। यह हल्कापन बढ़ते–बढ़ते जिस दिन परिपूर्ण हल्केपन की स्थिति में परिणत हो जाता है अर्थात् जब उसकी आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से विलग हेा जाती है, तब वह परम सुख के स्थान को पा लेता है।

७८. जीव और पुद्गल

यह आत्मा अनादिकाल से जड़ पुद्गलों से सम्बद्ध बनी हुई है, जन्म–जन्मान्तरों से कर्म पुद्गलों से जकड़ी हुई होने के कारण उसे निज स्वरूप का भान नहीं हो रहा है। निज स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए यह सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है। मनुष्य जीवन में ही स्व का परिपूर्ण समीक्षण किया जा सकता है। चार गति में यही एक ऐसी गति है जिससे आत्मा निज का समीक्षण करके लक्ष्य के चरम छोर पर जा सकती है। मनुष्य कितना ही वैभव पा जाए, संसार की समृद्धि भी प्राप्त करले, मानुषिक काम–भोगों को भी विपुल मात्रा में प्राप्त करले, किन्तु उनसे उसे कभी भी आत्म–समीक्षण नहीं होने वाला है। वर्तमान युग के अधिकांश मानव सांसारिक सुख–सम्पत्ति के पीछे स्व को भूलते जा रहे हैं। उनकी प्रत्येक गतिविधि भौतिक पुद्गलों को प्राप्त करने में लगी हुई है। लेकिन उन तत्त्वों से वे आज तक सुख–शांति को प्राप्त नहीं कर पाये हैं। क्योंकि उन भौतिक तत्त्वों में वास्तविक सुख का अंश भी विद्यमान नहीं है। इतना होने पर भी मानव का भौतिक पुद्गलों की ओर आकर्षित होने का यह कारण है कि जन्म–जन्मान्तर से उनकी आत्मा उन्हीं पुद्गलों से सम्बद्ध रही है। जो व्यक्ति गंदगी में रहने के अभ्यासी हो जाते हैं, उन्हें कितना भी सुगंध में ले जाने का प्रयास किया जाए तथापि वे गंदगी में ही जाना पसंद करते हैं। बहुत दुर्लभ व्यक्ति होते हैं जो गंदगी से हटकर सुगंध में आ पाते हैं। ठीक इसी प्रकार यह आत्मा भी अनादिकाल से वैभाविक तत्त्वों की ओर आसक्त हो रही है। अतः अब भी उसे वैभाविक तत्त्व ही अच्छे लगते हैं, वह उन्हें पाने के लिए दौड़ती है। बहुत कम आत्माएं ऐसी होती हैं जो वैभाविक तत्त्वों से हटकर स्वाभाविक आत्म–स्वरूप की ओर आकर्षित बनती हैं।

७९. लक्ष्य सम्यक्दृष्टि आत्मा का

जब से आत्मा सम्यक्दृष्टित्व अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब से उसका लक्ष्य निज–स्वरूप को साधने का बन जाता है। सम्यक्दृष्टि आत्मा जड़–चैतन्य के स्वरूप को समझने लगती है। पुद्गल मेरा साध्य नहीं है, आत्मा पुद्गलों से प्रतिबंधित है। मेरा लक्ष्य आत्मा को वैभाविक तत्त्वों से हटाकर शुद्ध स्वरूप में ले जाना है। इस प्रकार आत्मिक बोध के साथ सम्यक्दृष्टि आत्मा विकास के मार्ग पर बढ़ने लगती है। एक दृष्टि से विचार किया जाए तो सम्यक्त्व अवस्था आत्म–विकास का प्रथम चरण है। जब तक लक्ष्यानुरूप गति नहीं होती, तब तक आत्मा अभीष्ट अर्थ सिद्ध नहीं कर सकती। सम्यक् अवस्था निज स्वरूप को विज्ञान कराने का प्राथमिक प्रयास है। सम्यक् बोध पा लेने पर आत्मा के विकास क्रम का सही लक्ष्य बन जाता है। सम्यक्दृष्टि आत्मा निश्चित रूप से एक न एक दिन मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

सम्यक्दृष्टि आत्मा के परिपूर्ण विकासक्रम में मानव देह बहुत सहायक बनती है, मानव तन में रहकर आत्मा परिपूर्ण विकास की दिशा में गतिशील बन सकती है। सिद्ध स्वरूप में रमण करने वाली आत्माओं ने सिद्धावस्था की प्राप्ति इस मानव तन से ही की थी। यह शाश्वत सत्य है कि निज स्वरूप में परिपूर्ण निखार मानव तन में ही होता है।

प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा को परिपूर्ण विकास की प्राथमिक भूमिका–सम्यक्त्व की प्राप्ति होना आवश्यक है। मानव देह से जहां सम्यक्दृष्टि आत्मा आत्मदीप जगा सकती है, तो उसी मानव देह से आत्मा पतन की ओर भी जा सकती है। भव्य आत्माओं को उन्नति का सम्यक् बोध प्राप्त कर प्रवृत्ति की दिशा में बढ़ना चाहिए।

८०. खिलौने आत्मा के

बच्चा बचपन की अवस्था में खेलना पसंद करता है। वह खिलौनों से खेलता है। परन्तु बच्चे की वह खिलौनों से खेलने की आदत, ज्ञान के अभाव में मनोविनोद की आदत है। जैसे बच्चे की आदत मिट्टी के खिलौनों से खेलने की है, वैसे ही इस आत्मा की आदत भी बच्चे के तुल्य बनी हुई है। बच्चा

रंग–बिरंगी मिट्टी के बने हुए खिलौनों से खेलता है। आप जरा गंभीरता से चिंतन कीजिए, बड़े–बड़े बंगले किसने बनाए ? फर्नीचर का सामान किसने सजाया ? ताश, चौपड़ किसने बनाए ? ताश, चौपड़ स्वयं में तो नहीं समझते हैं कि हम ताश, चौपड़ हैं, परन्तु ताश, चौपड़ को बनाने वाली आत्मा है, खेलने वाली आत्मा है और उन्हीं से वह खेलती है, मनोविनोद करती है। सिनेमाघर (टॉकीज) किसने बनवाए और फिल्म किसने बनाई ? वहीं इनमें आत्मा जाकर बैठती है, दुकान पर जाकर बैठती है, तो यह खिलौनों का व्यापार करती है। मिट्टी से आप सब तरह की मिट्टी ले सकते हैं, इसमें सख्त और कोमल भी हैं। सोना–चांदी भी मिट्टी के सख्त रूप हैं। सोना–चांदी गए तो नोट आए, ये भी तो उसी तत्त्व से बने हुए हैं। अधिकांश तत्त्व इसी मिट्टी के बने हुए हैं।

जो दृश्य पदार्थ हैं–नजर आ रहे हैं, वे भी अधिकांश रूप से मिट्टी पुद्गल से बने हुए हैं और यह आत्मा उन्हीं खिलौनों से खेल रही है और इनमें ही आनन्द मानती है। क्या कभी इन खिलौनों से विराम लेने की मन में आती है ? कभी इन खिलौनों से खेलने की अनिच्छा भी होती है ? यह दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती ही रहती है ? छोटे बच्चे तो उनको जल्दी छोड़कर दूसरी तरफ आ जाते हैं, परन्तु ये बड़े–बड़े, इनको बच्चे कहूं या क्या ? जो इन पदार्थों में रमण करते हैं, अपने को भूल जाते हैं तो वे बच्चे ही हैं। उन्होंने अपने–आपका घेरा बना रखा है। उसी चारदीवारी में इनका घूमना होता है। उसी में आनन्द लेते हैं। रात और दिन मस्तिष्क में एक ही चक्कर घूमता रहता है। कैसे धन पैदा किया जाए ? यश–कीर्ति पैदा की जाए, लेकिन वे यह नहीं सोच पाते कि ये सब वैभाविक परिणाम यथार्थ में शांति प्रदायक नहीं हैं।

८१. शैवालाच्छादित मेंढक : कर्माच्छादित आत्मा

एक बावड़ी पानी से लाबलब भरी हुई थी, जब पानी काम में नहीं आता था तो उस पर कांजी, शैवाल का इतना स्तर जम जाता था कि पानी नहीं दिखता था। उसी बावड़ी में कछुआ और उसके परिवार के सदस्य रहते थे। संयोगवश ऐसी आंधी चली कि थोड़ी शैवाल हट गई और वहां पर एक कछुआ बैठा हुआ था। उसकी दृष्टि आकाश की तरफ गई कि अजीब है ! यह क्या ? पूर्णिमा की चांदनी छिटक रही है, चांद प्रकाश दे रहा था और तारे टिमटिमा रहे थे। विशाल आकाश को देखकर उसे आश्चर्य हुआ और सोचा कि मैं ऐसा दृश्य परिवार वालों को भी दिखा दूं। वह बुलाने के लिए गया, परिवार के सदस्यों को और इधर संयोगवश दूसरा आंधी का झोंका आया और शैवाल से छिद्र पुनः भर गया। कछुआ परिवार के सदस्यों को लाया, लेकन वह आकाश नहीं दिखा सका। तब दूसरे ने कहा कि इस काई और बावड़ी से बढ़कर दुनिया में कुछ

नहीं है। वह कहता है कि मैंने अभी–अभी इतना बड़ा आकाश देखा, चन्द्रमा देखा एवं चन्द्रमा की चांदनी देखी, तारे देखे, जिनका वर्णन नहीं कर सकता हूं। तो वे सब कहने लगे कि बताओ। वह हैरान है, परन्तु वह उस दृश्य को भूल नहीं सकता है। वैसे ही इस मनुष्य जन्म में रहने वाली आत्मा पर–पदार्थों से वास्ता रखे हुए हैं और अपने निज स्वरूप को पहचान नहीं पा रही है। कारण, आत्मा के ऊपर मोहकर्म की शैवाल छाई हुई है। यह इस कदर आत्मा पर छाई हुई है कि छिद्र नहीं मिलता है। कभी–कभी उपदेश सुनते हैं, धर्म की करनी करते हैं, नियमित रूप से चिन्तन–मनन करते हैं। ध्यान और स्वाध्याय करते हैं ताकि उन बादलों की तरह मोहकर्म का कुछ छिद्र हट जाए तो, उसको जो आनन्द प्राप्त होगा वह भूला नहीं जा सकता है। वह भले ही कोई काम करेगा, परन्तु उसमें रमेगा नहीं।

८२. शान्ति की दुर्लभता

आज विश्व में भौतिक विज्ञान का विस्तार हो रहा है। नित्य नवीन–नवीन सुख–सुविधाओं के साधन उपलब्ध हो रहे हैं। यातायात के साधन इतने तीव्रगामी और दूरगामी हैं कि दुनिया की दूरी दूर होती जा रही है, वह सिमटती जा रही है। विश्व के एक छोर से दूसरे छोर पर अल्प समय में ही पहुंचा जा सकता है। दूर–दूर के शब्दों का आदान–प्रदान कुछ ही क्षणों में हो सकता है। ये उपलब्धियां भौतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु इन सबके बावजूद शान्ति सुलभ नहीं हुई है। ज्यों–ज्यों सुख–सुविधा के भौतिक साधन उपलब्ध होते जा रहे हैं, त्यों–त्यों शान्ति विलुप्त होती जा रही है। साधनों की वृद्धि के साथ–साथ अशांति की वृद्धि होती जा रही है। दुनिया की दूरी मिटने के साथ–ही–साथ दिलों की दूरी बढ़ती चली जा रही है। इसका अर्थ यह है कि भौतिक साधनों की अभिवृद्धि शांति की विधि नहीं है।

आप और हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जिनके पास भौतिक साधनों की जितनी अधिक विपुलता है, वे उतने ही अधिक अशांति की आग से जल रहे हैं। तो स्पष्ट ही यह ज्ञान होना चाहिए कि शांति का यह मार्ग नहीं है जिस पर न केवल दुनिया चल रही है, अपितु दौड़ रही है। शांति का कोई दूसरा ही रास्ता है। जब यह प्रतीत हो जाए कि मंजिल पर पहुंचने के लिए हमने जो मार्ग अपनाया है, वह गलत है तो समझदारी और विवेक का तकाजा है कि हम उस मार्ग को तत्काल छोड़ दें और सही मार्ग की खोज करें, अन्यथा हम शांति की

मंजिल तक कभी भी नहीं पहुंच पाएंगे। भौतिक साधनों को जुटा कर देख लिया कि इनमें कहीं शांति का नामोनिशान नहीं है अपितु ये तो शांति को चौपट करने वाले हैं। तो अपनी गलत दिशा को छोड़ दीजिए और सही दिशा की ओर मुड़ जाइये। वह सही दिशा है–समता और समीक्षण।

समता द्वारा जीवन में समताभाव की, समीक्षण द्वारा आत्मा से परमात्मा की दूरी तय की जाती है। आवश्यकता है इन्हें समझने की।

८३. अन्तःसमीक्षण

आप सब शांति पाना चाहते हैं। शांति के साधन जुटाना चाहते हैं। बाह्य साधनों को जुटाने के प्रयास में इतना समय निकल गया, आयु का बहुत–सा भाग चला गया किन्तु शांति के दर्शन हुए क्या ? शांति की एक किरण भी प्रस्फुटित हुई हो तो बताइये। तो आइये, बाहर से दृष्टि हटाइये और अन्तःप्रवेश करिये।

जिन आत्माओं ने अपने अन्तर्स्वरूप को समझा है, उन्होंने संसार को समग्र रूप से जाना है, जिनसे विश्व का कोई भी अंश छिपा हुआ नहीं रहा है। अन्तःसमीक्षण शांति का संदेशवाहक है, विश्व के आंगन में समता का विस्तारक है, सुख का संचारक है, पाप के ताप का निवारक है, भवोदधितारक है और जग–जीवों का उद्धारक है। कषाय की आग को शांत करने के लिए यह पानी है, वैर–विरोध की गरमी को प्रशांत करने हेतु यह मेघ की धारा है, मन की मलिनता को धोने के लिए यह गंगाजल है, विषयों के विष–विकारों को हटाने के लिए यह अमृत है, मोहान्धकार को मिटाने के लिए यह सूर्य है, आध्यात्मिक दीनता को दूर करने के लिए चिन्तामणि है और मुक्तिरूपी फल के लिए कल्पवृक्ष है।

८४. पाश्चात्य संस्कृति - भारतीय संस्कृति

आज भारतवासियों की दृष्टि भी पाश्चात्य जगत् की तरफ लगी हुई है। वे सोचते हैं कि अमेरिका वाले बहुत आनन्द में होंगे, क्योंकि उनके पास बहुत पैसा है। परन्तु पूछिये उन्हें कि आप कितने आनन्द में हैं ? सुख–शांति में तो हैं ? बड़ी हवेलियों में रहने वालों से भी पूछिये कि आपको सुख है या दुःख? वे अपनी सारी शक्ति लगाकर मृगतृष्णा की तरफ भाग रहे हैं। वे नहीं

सोचते हैं कि यह जीवन क्यों हैं और क्या है ? यद्यपि इन पदार्थों का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता है, परन्तु इनसे ही आनन्द मान लेना और इनसे ही चिपक जाना, अज्ञान की दशा है। इसी से आत्मा के आनन्द की शक्ति दब रही है और उसका ह्रास हो रहा है। आज के मानव को सोचना चाहिए कि मैं पूरी शक्ति लगाकर इन पदार्थों को बटोर रहा हूं, परन्तु इनके साथ मेरा सच्चा सम्बन्ध नहीं है। ये स्थायी नहीं हैं। दुनिया चाहे जिधर भी दौड़ रही हो, परन्तु क्या हम भी उधर ही भागते जाएं ?

दुनिया में जिधर भी जाइये, उधर यही रट लग रही है––हाय पैसा, हाय पैसा, हाय धन। यदि धन मिल भी गया तो वह कितने दिन तक टिकेगा? उससे आनन्द की कितनी अनुभूति होगी ? इसका चिंतन करना चाहिए। आज तक संसार का कोई भी व्यक्ति धन से सच्चा सुख प्राप्त नहीं कर पाया है। अतः पाश्चात्य संस्कृति से हटकर भारतीय संस्कृति को अपनाना चाहिए।

८५. पेटी के लोभ से अमानवीयता

भूख पेट की नहीं, परन्तु पेटी की है। उसके लिए इन्सान अपनी शक्ति को कहां लगा रहा है और कहां–कहां भागता फिर रहा है ? यह पेटी की तृष्णा जल्दी से पूरी नहीं होती है। मनूष्य इसमें आनन्द का अनुभव करना चाहता है, इसलिए वह नैतिकता और अनैतिकता–कुछ भी नहीं देखता है। जैसे कोई व्यक्ति सोचता है कि ईमानदारी से व्यापार करूंगा तो थोड़े–से पैसे पैदा होंगे। अतः इसमें चालाकी की जाए ताकि ज्यादा पैसा मिल सके और वह वस्तु में मिलावट करना चालू कर देता है। ग्राहक की आंखों में धूल डालने के लिए असली घी में डालडा या अमुक जाति का तेल डालने की कोशिश करता है। इस मिलावट की दृष्टि से व्यापारी अपनी आत्मा को कितनी मैली कर रहा है?

वह सोच भी नहीं पा रहा है कि उसका जीवन मानवीय धरातल पर है या अमानवीय धरातल पर ? वह जीवन राक्षस का है या मनुष्य का ? यदि आप इसे गहराई से सोचेंगे तो प्रकट होगा कि जो व्यक्ति मिलावट करता है, वह अत्यंत क्रूर और निर्दयी बन रहा है। व्यक्ति पैसे का गुलाम बनता है तभी वस्तु में मिलावट करता है। जिसके साथ जिस पदार्थ का मेल नहीं है, यदि वह उसमें मिला दिया जाता है तो इस संयोग से जो पदार्थ बनता है, वह जहरीला बन जाता है। इस संयोग से न मालूम मानव जीवन को कितनी क्षति पहुंच रही है? इसका उसे ध्यान नहीं है। इस तरह से जो वस्तुओं में मिलावट करता है, वह चाहे किसी प्रलोभन में आकर ऐसा करता हो, परन्तु ऐसा करके वह मनुष्यों के

लिए जहरीला काम करता है, जो उसे मानवता से हटाकर निम्न स्तर पर पहुंचा देता है।

८६. मानवीय शक्ति

मानव बहुत बड़ी शक्ति को संचित करके बैठा है। वह बहुत बड़ी निधि को लेकर चल रहा है। वह बहुत बड़े चिंतामणि रत्न को पास में रखकर सो रहा है। परन्तु उस चिंतामणि रत्न का उसे कुछ ज्ञान नहीं है। उसे उस पवित्र शक्ति का ध्यान नहीं है। ऐसी दशा में ज्ञानीजन अनन्त करुणा की दृष्टि से अपने कर्तव्य का वहन करने की भावना से भव्य प्राणियों को जगाने की कोशिश करते हैं।

मानव को जगाने की आवश्यकता है। वह चिंतन करे कि ऐसी शक्तियों का पुंज और चिंतामणि रत्न, जो वांछित इच्छापूर्ति करने वाला तत्त्व है, वह मेरे पास है तो मैं दरिद्री कैसे हूं ? मैं क्यों अपनी आत्मा के अंदर हीनभावना को पा रहा हूं ? रात और दिन मेरे चेहरे पर उदासी छाई रहती है, मैं चिंता ही चिंता करता रहता हूं कि क्या करूं, मेरे पास अमुक चीज नहीं है, मैं अमुक कष्ट से ग्रसित हो गया, मेरे ऊपर अमुक विपत्ति आ गई, अमुक समस्या आ गई तो उसकी पूर्ति कैसे की जाए, अब कैसे, क्या होगा ? इस प्रकार की धारणा मस्तिष्क में लाकर यह आत्मा अपने–आपको हीनभावना में बहा रही है। इस हीनभावना का दुष्परिणाम यह है कि इन्सान की प्रफुल्लित बनने की शक्ति का विकास नहीं हो रहा है, उसकी पवित्र शक्ति का जागरण नहीं हो रहा है। अतः मानव अपनी शक्ति को जगाने के लिए सत्पुरुषार्थशील जीवन बनाए।

८७. कंकर और गेहूँ

एक मनुष्य ने बहुत बड़ी गेहूं की राशि देखी, जिसमें बहुत अधिक कंकर मिले हुए थे। फिर उसने यह विचार किया कि इस गेहूं के साथ बहुत कंकर हैं और यदि ये कंकर के साथ खाए गए तो मेरे जीवन के लिये घातक बनेंगे। मैं इन कंकरों को बीन लूं तो शुद्ध गेहूं मेरे जीवन के लिये हितावह हो सकते हैं। इस भावना से यदि वह गेहूं को देखना चालू करे और उसमें रहने वाले कंकरों को चुनना चालू करे तो आहिस्ता–आहिस्ता वह गेहूं की राशि को कंकरों से रहित कर सकता है परन्तु यदि कोई चाहे कि गेहूं की राशि को मैं

एक साथ ही कंकरों से रहित कर दूं तो यह शक्य नहीं है।

इस जीवन की भव्य राशि में कंकरों के समान जो हीनभावनाओं का संचय है, मलिन तत्त्वों की उपस्थिति है, यदि उनको चुनने का कोई अभ्यास बना ले तो वह प्रतिदिन अपने गुणों में वृद्धि करता हुआ अपने जीवन में पुण्यशील बन सकता है।

८८. कोई छाया का अनुसरण न करे

सूर्योदय के समय मनुष्य सूर्य की तरफ पीठ करके, पश्चिम की तरफ मुंह करता है तो उसे अपनी छाया लम्बी दिखाई देती है। वह छाया को देखता हुआ सोचता है कि मैं बहुत बड़ा हूं। मैं हाथ ऊंचे करूं तो और भी बड़ा हो सकता हूं। वह अपने हाथ को ऊंचा करता है, हाथ लम्बे दिखलाई देते हैं। वह झुकता है तो छाया भी झुकती है, वह टेढा होता है तो छाया भी टेढी होती है, वह मुंह फेरता है तो छाया भी मुंह फेरती है। इस प्रकार छाया मनुष्य के आधीन है, छाया के अनुरूप मनुष्य नहीं है, मनुष्य के अनुरूप छाया है। यदि इन्सान उस छाया को विशेष महत्त्व न देकर अपने जीवन को महत्त्व दे तो वह अपनी छाया को इच्छानुसार मोड़ सकता है। यदि जीवन को मोड़ करके छाया को पकड़ने दौड़ता है, जिधर छाया है उधर पकड़ने को दौड़ता है, तो क्या वह छाया को पकड़ सकता है ? वह कितना भी दौड़े परन्तु छाया पकड़ में नहीं आ सकती। वैसे ही इन्सान का पूर्वकृत भाग्य, उसकी हथेली की रेखाएं और शारीरिक चिह्न, ये सब छाया के तुल्य हैं। यदि वह अपनी शक्ति को मोड़ता है तो उसके भाग्य में भी मोड़ आ जाता है। इन्सान अपनी शक्ति को कुबड़ा करेगा तो उसमें भी कुबड़ापन आ जाएगा। यदि व्यक्ति यह सोच ले कि ये रेखाएं कुछ नहीं, ये तो छाया के तुल्य हैं, मैं इन्हें मोड़ सकता हूं तो इन्सान अपनी जीवन–शक्ति को संभाल लेगा। परन्तु मनुष्य के मन में यह उदात्त भावना, यह शक्ति योग्य व्यक्तियों के सम्पर्क से ही आ सकती है। यदि उनका सम्पर्क निरन्तर चलता रहा और उनके पदचिह्नों पर चला जाय तो इन्सान बहुत बड़ी शक्ति पाकर, आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।

८९ मन-चंचलता में हेतु

यह पंचम काल है, इसके अन्दर अनेक प्रकार ही विचित्र परिस्थितियां मानव मन को शांत न रखते हुए उसकी चंचलता को दिन–प्रतिदिन बढ़ा रही हैं। ऐसी मानसिक दशा में प्रभु के स्वरूप का चिंतन अति कठिन है। वह स्वरूप मन से, बुद्धि के माध्यम से और चिन्तन की शक्ति से समझा जा सकता है। जिस माध्यम से, जिस मन से तात्त्विक दृष्टि का स्वरूप चिंतन किया जाता है, जब उस मन में ही उलझन हो, मन ही गठीला बना हुआ हो, तब उसकी एकाग्रता स्थिर नहीं रहती है। ऐसी स्थिति में परमात्मा के स्वरूप को समझना कठिन हो जाता है।

मन की इस प्रकार की विचित्र दशा के अनेक कारण हैं। पंचमकाल का प्रभाव, उसकी स्थिति की विचित्रता तो मन को विचित्र बनाने में निमित्त है ही, परन्तु साथ ही, इसके प्रभाव से संसार के अन्दर विचित्र–विचित्र परिस्थितियां और विचित्र गुट भी बन रहे हैं : उनमें मनुष्य का मन उलझ जाता है और वह सही मार्ग से ध्यान हटाकर दूसरी ओर लग जाता है। इसीलिए कवि का कथन है कि–

गच्छना भेद बहु नयण निहारता,
तत्त्वनी बात करता न लाजो।

जहां अलग–अलग पार्टियां हों, अलग–अलग व्यक्तियों के गुट हों, अलग–अलग स्थितियों से चिंतन हो और अलग–अलग भावनाओं से स्वार्थ का पोषण हो, इस प्रकार का वातावरण जब कुछ इन्सानों में चलता हो तो व्यक्ति का मन दूषित हुए बिना नहीं रहता है। व्यक्ति सोचता है कि मैं अमुक गुट या गच्छ के साथ बंधकर चलूंगा तो मुझे बड़ी भारी सफलता मिलूगी। मैं दुनिया में प्रसिद्ध हो सकूंगा। इस प्रकार की भावना जिस मानस में चलती है तो वह मानस भले ही तत्त्वों की बातें करता हो, ऊपरी दृष्टि से कितना ही चिंतक कहलाता हो परन्तु जब उसके अन्दर स्वार्थ सिद्धि की आसक्ति रहती है, जब वह इस गच्छ या गुट के साथ गाढ़े तरीके से बंध जाता है, जब वह प्रभु की साधना का चिन्तन करनेवाला नहीं रहता है।

९०. सती राजमती और रथनेमि

अरिष्टनेमि के लघु भ्राता रथनेमि इस संसार को त्याग कर एक गुफा में आध्यात्मिक साधना में बैठे थे। परन्तु वहां भी उनके डिगने का प्रसंग आ

गया। आंधी और तूफान के साथ पानी बरसने लगा। सती राजमति नेमिनाथ भगवान के दर्शन के लिए जा रही थी। बरसात में भागते हुए साध्वी ने उस गुफा में प्रवेश किया। सती सोचने लगी कि इस गुफा में कौन रह सकता है ? सती ने बाहर के प्रकाश में से अन्धकार में प्रवेश किया था। जब व्यक्ति सहसा ही प्रकाश से अंधेरे में प्रवेश करता है तो उसे कुछ दिखलाई नहीं देता है। सती राजमति को वहां कुछ नहीं दिखने से वह अपने वस्त्रों को उतारकर सुखाने में तत्पर हुई। वस्त्र सूखने में कुछ समय लगा। इधर गुफा में बैठने वाले रथनेमि, जो अपनी आध्यात्मिक साधना में तन्मय थे, राजमति को देखकर चंचल हो उठे और आध्यात्मिक धारा से नीचे उतरकर मलीन भाव अभिव्यक्त करने लगे। परन्तु सती तेजोमयी थी और आत्मज्ञान–सम्पन्न थी। ऐसी कठिन परिस्थिति में भी वह तलवार की धार (संयम) पर अखण्ड रूप से चलने वाली थी। रथनेमि को फिसलते देख उस सती ने उन्हें बोध देना ही उचित समझा और इस प्रकार फटकार लगाई–

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीविय कारणा।
वंतंमिच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे।।

–उत्तरा. अ. 22 गाथा 43.

अरे ! धिक्कार है तुझे, अपयश के कामी! तू आध्यात्मिक साधना के लिए साधु बना और आत्मबल साधने के लिए गुफा में बैठा, परन्तु यहां बैठे–बैठे भी उस साधना से भ्रष्ट होने की स्थिति में चल रहा है। ऐसे जीवन को धिक्कार है, इससे तो मरना ही श्रेयस्कर है।

सती के ऐसे जोशीले वचन आध्यात्मिक धारा पर चलने के कारण तीक्ष्ण थे। वे किसी दिल को चोट पहुंचाने के लिए नहीं थे। वे तीक्ष्ण वचन तो मोह जाल को काटने के लिए थे। रथनेमि पुनः आत्मस्थ हो गए।

९१. साधुओं के प्रति श्रावकों का कर्तव्य

आप संत और सतियों की तारीफ करते हुए नहीं थकते हैं और लम्बे–लम्बे भजनों के साथ उनकी स्तुति कर बैठते हैं। आप ये स्तुति के आभूषण तो संत और सतियों के गले में डाल देते हैं, परन्तु ये स्तुति के जेवर पहनाकर आप चुप नहीं रहें। आप ये जेवर पहना तो देते हैं, परन्तु इससे कभी संत फूल गये तो वे आभूषण घातक सिद्ध होंगे। अतः उनकी रक्षा करने के लिए आपको तत्पर रहना है। यदि साधु–साध्वी तारीफ में फूल कर अपने–आपको

सब–कुछ समझ बैठें और मर्यादा भंग करना चाहें तो आपका कर्तव्य है कि विनय के साथ उन्हें कहें कि भगवन् ! आप सावधान रहिए !

आप आदर के साथ कहें––भगवन् ! सावधान रहिए। आपने संसार का परित्याग किया है, आप आध्यात्मिक जीवन के याथ तन्मय हो कर चल रहे हैं। आप पवित्रता के प्रतीक हैं। यदि आप पवित्र रहेंगे तो हमको उज्ज्वलतम उपदेश मिलेगा। आप महाव्रतों को तोड़ देंगे तो आपका स्वयं का जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा और फिर आप हमको क्या उपदेश देंगे ? आप स्वयं अनैतिक जीवन को अपना लेते हैं और उपदेश देते हैं तो हमारे जीवन पर कोई असर नहीं होगा। हम अपनी सीमा में दृढ़ रहें और आप अपनी सीमा में दृढ़ रहकर कार्य करें।

इस प्रकार का श्रावकोचित कर्तव्य, साधु–साध्वियों को अपनी मर्यादा में सुस्थिर बनाने में अत्यंत सहायक होता है।

९२. मानव तन का महत्त्व

मानव शरीर ही एक ऐसा शरीर है जिसके द्वारा आत्मा से परमात्मा का स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। शरीर तो देवों के भी हैं और नारकी जीवों के भी हैं परन्तु वे इस परम ज्योति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं। मनुष्य का शरीर ही एक ऐसा विशिष्ट शरीर है जिसमें आत्मा की विशिष्ट या अद्‌भुत ज्योति जगमगाई जा सकती है। शरीर की प्रक्रिया में इन्सान रात और दिन अपना समय लगा रहा है परन्तु वह समझ नहीं पा रहा है कि मेरे शरीर की ये प्रक्रियाएं शुभ हैं या अशुभ हैं ? मेरे द्वारा प्रकाश को पाने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है या अन्धकार को एकत्रित करने के लिए चेष्टा हो रही है ?

इस तथ्य को समझकर मानव को चाहिए कि वह दुर्लभ प्राप्त मानव–तन से सत्पुरुषार्थ कर आत्मा से परमात्म स्वरूप को उजागर करने का प्रयत्न करे।

९३. लोहा और धन

लोहे को कूटने वाले एक पिंड को भी घन की संज्ञा दी गई है। कितनी ही चोटें लगाई जाएं, परन्तु लोहा कूटा जाएगा और घन मजबूत रहेगा। इसी प्रकार जिन आत्माओं ने अपने आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लिया है, उन पर आपत्तियों के कितने ही घन क्यों न पड़ें, संकट के समय कितने ही झंझावात उनको झकझोरने के लिये क्यों न आ जायें, फिर भी उनमें

तीन काल में भी दुःख का प्रवेश नहीं हो पाता। इस प्रकार का आनन्द समूह जिस आत्मा को प्राप्त हो जाय वह चरम सीमा तक पहुंचने के साथ ही सदा के लिये आनन्दघन में निवास करने वाली बन जाती है।

९४. मुक्त आनन्द

मैं वर्तमान जीावन की थोड़ी–सी बात बतादूं। जब कोई व्यक्ति शारीरिक अथवा मानसिक या बौद्धिक श्रम करता हुआ थक जाता है तो उसे आराम की इच्छा होती है और वह गाढ़ी निद्रा में सो जाता है। उस प्रगाढ़ निद्रा में न इन्द्रियां जाग रही हैं और न मन स्वप्न देख रहा है। सब शारीरिक अवयव शिथिल पड़े रहते हैं। उस अवस्था से जब मनुष्य जागता है, तब उससे पूछते हैं–कहो भाई, कैसी नींद आई ? वह कहता है कि बड़ा आनन्द रहा। फिर पूछते हैं–अरे भाई कैसा आनन्द रहा ? वह कहता है कि कुछ मत पूछिये, आज तो ऐसी निद्रा आई कि सारी थकावट दूर हो गई और मुझे बहुत ही आनन्द का अनुभव हुआ। उस आनन्द का वर्णन वह नहीं कर सकता।

उस आनन्द के अनुभव की पूरी अभिव्यक्ति वह नहीं कर पा रहा है। तब प्रश्नकर्ता पूछता है कि क्या तुमने मीठा भोजन किया ? वह कहता है कि मीठा भोजन कुछ नहीं किया।

–क्या सुन्दर रूप देखा ?

–नहीं, वह भी नहीं देखा।

–क्या कोई सुगंध सूंघी ?

–वह भी नहीं सूंघी।

–क्या मधुर गाना सुना ?

–वह भी नहीं सुना।

–क्या किसी का स्पर्श किया ?

–वह भी नहीं किया।

–तो क्या तुमने स्वप्न देखकर आनन्द लिया ?

–नहीं स्वप्न भी नहीं देखा। फिर भी मुझे बड़ा आनन्द आया।

बताइये, वह आनन्द क्या है ? न उसमें खाना–पीना है, न सुनना है, न स्पर्श है। यह तो सुषुप्तावस्था का विषय है किन्तु जब व्यक्ति काम, क्रोध, मान, माया और राग, द्वेष से हटकर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना के साथ समतामय जीवन को ढालने की कोशिश करे, तो वह जागृत् अवस्था में इससे भी बढ़कर आनन्द प्राप्त कर सकता है, मोक्ष का आनन्द तो इससे भी अनंतगुणा

अधिक है।

मोक्ष में क्या आनन्द है, इसका लेखा–जोखा आप इन्द्रियों से नहीं ले सकते हैं। आत्मिक सुख इन्द्रियातीत है। वह आनन्द तो आत्मा की अनुभूति से ही लिया जा सकता है।

९५. दिव्य-नेत्र

ज्ञानियों का कथन है कि वर्तमान में इन्सान की जो ज्ञान शक्ति चल रही है, वह सिर्फ इन निस्सार स्थूल तत्त्वों तक सीमित है। वे नेत्रों से सिर्फ चर्म चक्षुओं से देखते हैं और व्यवहार दृष्टि में वे ही लिए जाते हैं, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से जो लोचन हैं, वे केवलज्ञान, केवलदर्शन हैं। जब आत्मा को केवलज्ञान, केवलदर्शन उपलब्ध होता है, परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण दर्शन की अवस्था बनती है, उस वक्त ही वह दिव्य नेत्र–'जिन' के नेत्र देख पाती है।

९६. 'जिन' नहीं दिखते गौतम को

प्रभु महावीर ने गौतम से कहा कि 'न हुं जिणे अज्ज दिस्सई बहुमए दिस्सई मग्गदेसीए' : हे गौतम! आज तुझे 'जिन' नहीं दिख रहे हैं परन्तु 'जिन' का दिखाया हुआ मार्ग दिख रहा है।

यह कितनी आश्चर्यकारी बात है। जिन भगवान केवलज्ञान से युक्त अलौकिक प्रकाश को लेकर अतिशयसम्पन्न शरीर से विराजे हुए हैं। गौतम गणधार 'जिन' के चरणों की उपासना कर रहे हैं। प्रश्न के साथ ही चरणों को छूते हुए उनके नेत्रों का अवलोकन कर रहे हैं। फिर यह परस्पर विरोध दिखाने वाली बात कैसे ? परन्तु पैनी दृष्टि से आध्यात्मिक चिंतन किया जाए तो बात बिलकुल सही है। गौतम स्वामी छद्मस्थ थे। वे केवलज्ञान के प्रकाश से युक्त नहीं थे और केवलज्ञानी भगवान की 'जिन' अवस्था राग–द्वेष से रहित थी।

आत्मा की इस पूर्ण शुद्ध अवस्था को छद्मस्थ व्यक्ति के नेत्र देख नहीं पाते हैं। इसीलिए वे 'जिन' के साक्षात् रहते हुए भी उनके दर्शन नहीं कर पाते। उन्हें जो दर्शन हो पाते हैं वे अनुमानित 'जिन' के होते हैं।

१७. दृढ़ संकल्प

एम. ए. की कक्षा का लक्ष्य निर्धारित करते हुए भी यद्यपि प्रथम कक्षा में रहने वाला विद्यार्थी एम. ए. की कक्षा की योग्यता नहीं देख पाता है, परन्तु एम. ए. की योग्यता का दृढ़ संकल्प जब मन में रहेगा तो वह सबसे पहले प्रथम कक्षा में ही प्रवेश करेगा, वर्णमाला ही सीखेगा। फिर वर्णमाला के साथ अक्षरों की संयुक्त वाक्यावली सीखेगा और उसके माध्यम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि कक्षाओं को पार करता हुआ क्रमिक रूप से आगे बढ़ेगा। यदि वह एम. ए. की कक्षा में प्रवेश करना चाहता है तो वह अन्य कक्षाओं को लांघ नहीं सकेगा और प्राथमिक योग्यता प्राप्त किये बिना कोई एम. ए. की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। जिसका लक्ष्य स्थिर होता है वह क्रमिक विकास करते हुए एक दिन अवश्य ही एम. ए. की कक्षा का पूरा अनुभव कर लेता है, वैसे ही यदि आत्मा एम. ए. के तुल्य अपना लक्ष्य ईश्वरत्व को प्राप्त करने का बनाती है तो एक दिन उस पर गति करती हुई परमात्म रूप का वरण भी कर लेती है।

१८. कीचड़ न लगे

मनुष्य गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ अपनी घरेलू समस्याओं को हल करना चाहता है क्योंकि उस पर परिवार की जिम्मेदारी है और समाज तथा राष्ट्र का उत्तरदायित्व भी है। यदि वह इन सब जिम्मेदारियों को निभाता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहता है तो परिवार के संरक्षण के लिए उसे कुछ कार्य करना पड़ता है। आवश्यकतानुसार अर्थोपार्जन के लिए भी व्यवसाय करना पड़ता है तो उसमें भी ऐसी क्रियाएं हो जाती हैं कि जिनके माध्यम से मलिनता आत्मा के साथ संयुक्त हो जाती है। गृहस्थ कितना ही प्रयत्न करे, परन्तु वह अपने–आप को सर्वथा अलिप्त नहीं रख पाता है। फिर भी इन कारणों से आत्मा में जो मलिनता आ रही है, वह अर्थदण्ड माना जाएगा। परन्तु परिवार आदि की जिम्मेदारियों के निर्वाह करने में जिन क्रियाओं का प्रयोजन नहीं है तथा राष्ट्र, समाज और परिवार के धरातल पर जिनकी जरा भी आवश्यकता नहीं है, उन प्रवृत्तियों को तो सबसे पहले त्याग देना चाहिए।

मनुष्य रास्ते में चलता है और उस रास्ते में कीचड़ है तो वह यह नहीं चाहेगा कि मेरे पैर कीचड़ में भरें। यदि कीचड़ उछलेगा तो कपड़ों के भी लगेगा। वह इसकी सावधानी रखता हुआ कार्य करेगा तो कीचड़ से बचता

रहेगा। परन्तु सावधानी रखते हुए भी कदाचित् उसके पैरों में कीचड़ लग जाए और कपड़ों के भी कीचड़ लग जाए तो नहीं चाहते हुए भी वह लाचारी से उन्हें बर्दाश्त करेगा। वह सोचेगा कि इसके बिना मेरा आगे का कार्य नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में उसका यह कार्य नाजायज नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसके विपरीत जिस व्यक्ति को कीचड़ में पैर देने की क्रिया करने का प्रयोजन ही नहीं है और फिर भी यदि वह इरादतन कीचड़ में पैर रखता है, अपने धुले हुए कपड़ों को खराब करता है और शरीर को भी कीचड़ में भरता है तो उस पुरुष को आप क्या कहेंगे ? आपकी दृष्टि में वह पुरुष कैसा होगा ? आप उसे बुद्धिमान कहेंगे या इसके विपरीत ?

आप भले ही मेरे सामने बोलें या न बोलें परन्तु मन में अवश्य साचेंगे कि इस तरह कार्य करने वाला व्यक्ति समझदार नहीं कहा जा सकता। वह जीवन के महत्त्व को जरा भी न समझते हुए व्यर्थ ही अपने पैर और कपड़े कीचड़ से भर रहा है।

मनुष्य इस बाहरी कीचड़ से बच सकता है और बचने का प्रयत्न भी कर सकता है परन्तु आन्तरिक जीवन की ओर लक्ष्य नहीं होने से वह अपनी आत्मा को निरर्थक पापों के कीचड़ से लिप्त कर रहा है। वह व्यर्थ के पापों को रोक नहीं रहा है। इसलिए आज के इन्सान की जिन्दगी इन पापों से ज्यादा मलिन बन रही है, इस तथ्य को समझो।

यदि वह वर्तमान जीवन को व्यर्थ के झंझावातों से बचाना चाहता है तो व्यर्थ के पापों से बचने का प्रयत्न करे। अतः गृहस्थ अवस्था में रहते हुए आपका कर्तव्य है कि आप अपनी आंखों आदि इन्द्रियों और मन का प्रयोग सदुपयोगपूर्वक उसी स्थान पर करने की कोशिश करें, जहां आवश्यकतावश गृहस्थ जीवन में रहते हुए करना पड़ता हो।

१९. आक्रान्ता के प्रति श्रावक का कर्तव्य

एक डाक्टर मरीज को आपरेशन हाल में ले जाता है और आपरेशन के लिए छुरी से उसके पेट आदि को चीरता है। ऐसा करते समय क्या वह मरीज को नष्ट करने के लिए पेट चीर रहा है या उसका रक्षण करने के लिए पेट चीर रहा है ?

वह उसको मारने के लिए छुरी नहीं चला रहा है। वह तो उसके पेट में जो फोड़ा है, जिससे कि उसकी जिन्दगी खतरे में है, उससे उसको बचाने

के लिए छुरी चला रहा है। उसका लक्ष्य मारना नहीं है परन्तु रोग को हटाना है।

इसी प्रकार श्रावक भी चतुर डाक्टर की तरह होता है। वह सोचता है कि इस आक्रांत व्यक्ति को तृष्णा का एक फोड़ा हो गया है या उसमें व्यर्थ की लालसा का रोग पैदा हो गया है। इसके कारण वह शांति भंग करता हुआ मेरे परिवार पर, समाज या राष्ट्र पर आक्रमण करके उसे तहस–नहस करना चाहता है। ऐसी स्थिति में श्रावक उस व्यक्ति को मारने के लिए नहीं, परन्तु उसके रोग को समाप्त करने के लिए और रोग का असर परिवार, समाज या राष्ट्र पर से दूर करने के लिए तैयार होता है। जो ऐसा रोग दूर करने के लिए तैयार होता है तो वह इस कार्य को करते हुए हिंसा के कार्य में भी प्रवृत्त हो सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में उसका यह हिंसा का कार्य अत्यल्प कर्मबन्धन कराने वाला माना जाएगा।

१००. लक्ष्मी का वास

जिन प्राणियों का यह ध्यान है कि इस संसार में इन्द्रियजनित सुख प्राप्त करने के लिए लक्ष्मी की आवश्यकता है और जितनी सम्पत्ति एकत्रित कर ली जाएगी, उतनी ही सुख की अभिवृद्धि होगी, वे इसी भावना को लेकर लक्ष्मी के पीछे बुरी तरह भागते हैं। परन्तु वे समझ नहीं पाते हैं कि लक्ष्मी कहां है और वह किसके चरणों में रहती है।

लक्ष्मी का एक नाम चंचला भी है। जिसका नाम ही चंचला है वह किसी भी व्यक्ति के साथ स्थायी रूप से नहीं रह सकती। स्तम्भ यदि मजबूत है तो झंडा कितना ही चंचल हो, वह उसके सहारे टिका रहता है परन्तु यदि स्तम्भ डोलायमान है तो झंडा तो उड़ने वाला है ही, उसका कोई ठिकाना ही नहीं रहेगा। लक्ष्मी रूपी झंडा, जिसको कमला भी कहा गया है, यदि स्थिर चरणों के साथ है तो उसकी चंचलता भी समाप्त हो सकती है और वह स्थायी रूप से उन स्थिर चरणों में सदा के लिए बनी रह सकती है। यदि उसके चरण ही स्थिर नहीं हैं तो फिर वह कमला स्थिर कैसे रह सकती है ? कवि ने रूपक दिया है कि–

चरण कमल कमला बसे रे, निर्मल सीपर पद देख।
समल अस्थिर पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख।।

दुनिया के लोग समझते हैं कि पंकज यानी कमल पर लक्ष्मी का निवास

है और वह कमल का सहारा लेकर चलती है परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि कमल के सहारे लक्ष्मी टिक नहीं सकती, क्योंकि कमल स्वयं चंचल है। कमल कीचड़ से पैदा होने वाला है, और जो कीचड़ से पैदा होने वाला है उसके साथ लक्ष्मी कैसे टिक सकती है ? लक्ष्मी तो निर्मल बुद्धि को देखकर ही स्थिर रह सकती है। परमात्मा के चरणों का सहारा लक्ष्मी ने लिया, कमला ने लिया तो क्या समझकर लिया ? इसलिए कि प्रभु के चरण निर्मल हैं, उनमें मैल नहीं है, वे सीपर हैं, कभी भी विचलित होने वाले नहीं हैं। ऐसे प्रभु के चरणों में कमला बसने लगी और उसने पंकज को छोड़ दिया क्योंकि वह मलयुक्त था।

कमजोर कमल को छोड़कर चंचला प्रभु के चरणों में पहुंची, यह एक अलंकार है। इस अलंकार के माध्यम से आप वास्तविक सुख दिलाने वाली वह कमला आध्यात्मिक लक्ष्मी है, उसे समझिये, उस लक्ष्मी को निर्मल चरण ही पसंद हैं। वह प्रभु के चरणों को निर्मल समझकर ही उनमें स्थिर है।

हाड़, मांस, रक्त आदि से बने मनुष्य के चरण तो नाशवान हैं। ये चरण स्थिर रहने वाले नहीं है। परन्तु उन सिद्ध परमात्मा के चरण तो श्रुत और चारित्र रूप हैं। श्रुत और चारित्र रूप चरण परमात्मा की विराट् शक्ति के अटल स्तम्भ हैं। जिस व्यक्ति को परमात्मा का स्वरूप पसंद है, जिसको स्थायी शांति चाहिए और जो सदा के लिए आध्यात्मिक लक्ष्मी को पाना चाहता है, वह प्रभु के श्रुत धर्म और चारित्र धर्म रूप, इन दोनों परम चरणों को ही ग्रहण करेगा।

१०१. सर्पिणी और काल

जब सर्पिणी के बच्चे पैदा होने का समय आता है तो वह अपने शरीर की कुंडली लगाकर, उस घेरे के बीच में बच्चे देती है। उसी समय उसे जोर से भूख लगती है। तब वह घेरे में रहे हुए बच्चों को खा जाती है, परन्तु संयोग से जो बच्चा घेरे से अलग हो जाता है, वह बच जाता है। ऐसी ही दशा इस काल रूपी सर्पिणी की है। इसके गोल चक्कर में जो फंसे हुए हैं, उनमें से कोई बिरला ही बच सकता है।

जिस प्रकार सर्पिणी का कोई बच्चा उस कुंडली के आकार वाले घेरे से कूद जाए, अलग हो जाए तो बच सकता है। इसी प्रकार काल रूपी सर्पिणी के द्वारा जो संसारी प्राणियों के जन्म–मरण का चक्कर चल रहा है, उस चक्कर से जो प्राणी कूद पड़ते हैं, अर्थात् श्रुत–चारित्र धर्म को अंगीकार कर साधना के

पथ पर बढ़ जाते हैं, वे कालचक्र रूपी सर्पिणी से सर्वथा, सर्वदा के लिए हटकर परम–मुक्त स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

१०२. मछली और आज का प्राणी

जो परिवार में रह रहे हैं, वे इन नाशवान सुखों की स्थितियों का अनुभव कर रहे हैं। परन्तु सोचिये कि उन्हें शांति का कितना अवसर मिल रहा है। मछेरा मछली मारने के लिए जाता है तो वह थोड़ी–सी आटे की गोलियां भी अपने कांटे में लगा देता है। जब वह उसको पानी में डालता है तो बेचारी भद्रिक मछली खाने के लोभ में, उस कांटे के अन्दर फंस जाती है। वह उसके दुष्परिणामों को नहीं देखती है। वह नहीं सोच पाती है कि मैं जरा–सी आटे की गोली खाऊंगी तो मेरा मुंह इसमें बिंध जाएगा। वह खाने को जाती है और जैसे ही मुंह को खोलती है तो कांटे में फंस जाती है। फिर तो मृत्यु ही है, बचने का कोई उपाय नहीं है।

संसार की यही विचित्र दशा चल रही है। सांसारिक प्राणी भी दुःखों से परिपूर्ण, सुखों के ऊपरी जाल को लिए हुए भौतिक पदार्थ– धन–सम्पत्ति, परिवार, पत्नी आदि को देखकर आकर्षित हो जाते हैं और उन्हें पाने के लिए अपनी जीवनी शक्ति को खर्च कर देते हैं।

१०३. मन की प्रवृत्ति

शरीर का आकार बड़ा है। हम शरीर को चलते हुए, खाते हुए, बैठते हुए, सुनते हुए देखते हैं। शरीर सम्बन्धी तमाम क्रियाएं हर किसी की दृष्टि में आ सकती हैं। परन्तु मन की क्रियाएं सीधे रूप में मनुष्य के समक्ष नहीं आती हैं। उनका अनुमान नहीं किया जा सकता है, परन्तु यह अनुमान सहज है कि आत्मा इतने बड़े शरीर का संचालन जिस माध्यम से कर रही है, वह माध्यम ही इसका मुख्य है। जो द्रव्य मन से प्रभावित होता है और जब वह इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर व्यापार में लगता है तो सारे शरीर की क्रियाएं विचित्र रूप में दिखाई पड़ती हैं। मनुष्य का व्यवहार, जैसा भी परिलक्षित हो रहा है, इसी से आप उसको पहचान सकते हैं। मन यदि विमलता के साथ चल रहा है तो शरीर की क्रियाएं भी विमल कार्य की ओर हो जाएंगी और वह मलिन कार्य नहीं

करेगा। यदि मन में मलिनता है तो नेत्रों में भी मलिनता आए बिना नहीं रहेगी। यदि मन में कुटिलता है तो मनुष्य के व्यवहार में भी कुटिलता रहेगी। मन में यदि छल है तो मानव के व्यवहार में भी छल प्रदर्शित होगा। मन गंदा है तो गंदी प्रवृत्ति अवश्य होगी। अतः आचरण की शुद्धि के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है।

१०४. भंवरे की कल्पना

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकज श्री :
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहारः

रात्रि व्यतीत होगी, प्रातःकाल होते ही सूर्य उदित होगा और कमल की पंखुड़ियां खिलेंगी। ऐसा चिंतन भंवरा कर ही रहा था कि कवि के अनुसार एक मदोन्मत्त हाथी उस सरोवर में पानी पीने को आता है और उस कमलिनी को उखाड़ कर फेंक देता है। कमलिनी के टूटने के साथ ही भंवरा भी नष्ट हो जाता है।

भाइयो ! वह भंवरा तो चतुरिन्द्रिय प्राणी है। उसके चार इन्द्रियों का विकास है। उसमें द्रव्य मन की अवस्था नहीं है। वह भाव मन के अध्यवसाय से काम करता है। वर्तमान सुख की ही उसकी संज्ञा है। वह इस कमल के मकरंद के पीछे अपनी जिंदगी की परवाह नहीं करता है, सारी दुनिया को कुछ नहीं समझता है और अंत में उसी में फंसकर अपना अमूल्य जीवन खो देता है। ठीक इसी प्रकार आज के व्यक्ति भी भंवरे की भांति ही संसार में फंसते जा रहे हैं। वे सोचते हैं कि जब जिंदगी के अन्तिम क्षण आएंगे, तब कर लेंगे। किन्तु काल रूपी हाथी आता है और उनकी जिन्दगी को नष्ट कर डालता है।

१०५. फल की कामना

मेरे भाई कभी–कभी नवकारसी का त्याग करते हैं तो उसके फल को भी जानने की कोशिश करते हैं। वे कहते हैं, "महाराज ! इसका कितना फल मिलेगा ?" वे सामायिक करते हैं, पौषध करते हैं, तपस्या में जोर लगाते हैं, धर्म–साधना में लगते हैं, परन्तु इन सब साधनाओं में लगते हुए भी यदि मन में

लालसा है कि इनसे कितना–क्या फल मिलेगा, इनसे हमारे कितने कर्म टूटेंगे और स्वर्ग का कितना सुख नजदीक आएगा, तो कहना होगा कि उन्होंने आध्यात्मिक जीवन का गुण, पूरा मकरंद नहीं लिया। जिसने आध्यात्मिक जीवन के गुणों का जरा–सा भी आस्वादन कर लिया, उसके मन में स्वर्ग के दिव्य सुख की लालसा नहीं रहेगी और न कीर्ति की लालसा ही रहेगी, वह तो देखेगा कि ये सारे कचरे हैं। इनके पीछे पड़ना, अपने–आपको दरिद्री बनाना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक सम्पत्ति से जिसका जीवन शून्य है और जिसमें आध्यात्मिक गुणों की सुगन्ध और वस्तुतः आनन्द की लहर नहीं है तो उस जीवन का विशेष मूल्यांकन नहीं हो सकता।

१०६. आध्यात्मिक रस

गजसुकुमालजी उन भव्य आत्माओं में से थे जिन्होंने आध्यात्मिक गुणों के रस का आस्वादन कर लिया था। वे त्रिखंडाधिपति श्रीकृष्ण वासुदेव के लघु भ्राता थे। उन्होंने इन नाशवान पदार्थों को तुच्छ समझ लिया और आध्यात्मिक रस में तल्लीन हो गए। उनको वैराग्य पथ से मोड़ने के लिए अनेक प्रलोभन दिए गए। उनके चरणों में सारा वैभव श्रीकृष्ण महाराज ने रख दिया। उन्हें सिंहासन पर, राज्याभिषेक करके बैठा दिया और स्वयं श्रीकृष्ण नीचे खड़े होकर कहने लगे–"महाराज ! अब आप राजनपति राजा बन गए हैं, कहिए मेरे लिए क्या आज्ञा है ?"

यदि गजसुकुमाल मुनि ने आध्यात्मिक गुणों के मकरंद का आस्वादन नहीं किया होता तो भले ही वे संतों की संगति और प्रभु के चरणों में गए हों, परन्तु इन प्रलोभनों और राज्य सिंहासन के चक्कर में वे आ जाते। वे कह देते कि मैं राजाधिराज बन कर राज्य करूंगा। परन्तु उनके हृदय में वह अध्यात्म रंग प्रवेश कर गया था। वे जरा भी विचलित नहीं हुए। आध्यात्मिक गुणों के मकरंद का आस्वादन एक बार भी किसी ने कर लिया है तो उसका जीवन बदल ही जाएगा।

१०७. जन्मांध

एक व्यक्ति जन्मांध है। जन्म से ही उसकी आंखों में रोशनी नहीं है।

परिवार में अन्य सदस्य उसको सम्भालने वाले भी नहीं हैं। इधर वह वृद्धावस्था से भी जर्जरित हो गया है। वह व्यक्ति लाठी के सहारे अपनी शौचादिक क्रिया की निवृत्ति के लिए शहर से बाहर जाना चाहे तो वह दीवार के सहारे–सहारे चलता है। परन्तु इधर तो शारीरिक ताकीदी और उधर आंखों में रोशनी नहीं है। ऐसी स्थिति में द्वार नहीं मिले तो उस व्यक्ति को कितनी हैरानी और थकान महसूस होगी। यदि सहसा उसके नेत्र खुल जाएं तो उस व्यक्ति को कितना आनन्द आएगा, उसको कितना विश्राम मिलेगा, यह भी वही जान सकता है।

वैसे ही मिथ्यात्व के रोग के कारण यह आत्मा जन्मांध व्यक्ति की तरह बनी हुई है और जर्जरित होकर चल रही है। इसको सहारा देने वाला वस्तुतः, देखें तो कोई नहीं है। यह अपने–आप की स्थिति में भटक रही है। यदि सहसा इसके समकित नेत्र खुल जाएं तो इसे परम आनन्द का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा।

१०८. दो बीज : समता-विषमता के

मस्तिष्क जीवन का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। उसमें विषमता के विषवृक्ष का अंकुर भी है और समता का पौधा भी है। दोनों का स्थल एक ही है। जैसे कि एक ही भूमि में अफीम भी बोई जा सकती है और गन्ने का पौधा भी उगाया जा सकता है, परन्तु यदि गन्ना उपजाना है तो अफीम की खेती को हटाना होगा और उस जमीन को साफ–सुथरी बनाकर सम अवस्था में लाना होगा। अफीम सम्बन्धी विषम तत्त्व को हटाकर यदि गन्ने का पौधा आरोपित किया जाता है तो अमृत तुल्य गन्ने की मधुरता उपलब्ध हो सकती है।

मनुष्य के मस्तिष्क की इस उपजाऊ भूमि में अफीम के तुल्य मल, विक्षेप और आवरण की खेती लहलहा रही है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा संत्रास पा रही है और उसे शांति के क्षण नहीं मिल रहे हैं। जिधर देखो उधर ही अशांति का जाल दृष्टिगत हो रहा है। ऐसी जगह पर, यदि समता रूपी इक्षु–रस की खेती उपजाना है तो उस मल, विक्षेप, आवरण रूपी अफीम को साफ करना होगा और मस्तिष्क की तमाम विचारधाराओं को समता सिद्धांत से आतप्रोत बनाना होगा। मनुष्य का मस्तिष्क समता सिद्धांत से परिमार्जित होना चाहिए। इस समता सिद्धांत दर्शन में समस्त मानव जाति का समावेश है, सम्पूर्ण विश्व की शांति का बीज इसमें समाया हुआ है।

यदि मनुष्य का मस्तिष्क समता सिद्धांत दर्शन से शुद्ध बनाया जाए तो उसमें शांति का बीजारोपण हो सकता है।

यदि व्यक्ति के मस्तिष्क में समता जीवन दर्शन का बीज अंकुरित हो गया है तो उसकी वाणी में समता का प्रवाह बहने लगेगा, उसके नेत्रों से समता का झरना बहेगा, उसके कानों में समता का नाद गूंजेगा, उसके हाथ समता के कार्य में अग्रसर होंगे, उसके पैरों की गति समता जीवन की साधना में तत्पर होगी, उसके शरीर के अणु–अणु में समता जीवन दर्शन का प्रकाश फूट पड़ेगा और वह समता की परम पावनी गंगा बहाता हुआ, जन–जन के मन को पवित्र करता हुआ चलेगा।

१०९. सूर्य-रश्मि

सूर्य की प्रभा, किरणें जब पत्थरों पर पड़ती हैं तो पत्थर भी चमकने लगते हैं। मिट्टी के ढेलों पर वे किरणें पड़ने लगीं तो वे भी चमकने लगे। मिट्टी और पत्थर में चमक नहीं है परन्तु सूर्य के प्रभाव से प्रभावित होकर उनमें भी चमक आजाती है। वैसे ही जिन आत्माओं का शरीर, निर्मल आत्मा से, निर्मल विचारों से जुदा रहता है, वह शरीर भी उन पवित्र आत्मिक विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है।

११०. आत्मारहित शरीर

प्रत्येक मानव में अमृततुल्य जीवन बनाने की कला है। परन्तु वह बाहर से नहीं आती है। मानव अपने–आप में उसका सृजन कर सकता है। विचारों का प्रभाव अणु–अणु पर पड़ता है और जब आत्मा के प्रदेशों में अमृत हो तो वह बाहर बहे बिना नहीं रहेगा। जैसे पानी अलग है, घड़ा अलग है, परन्तु पानी घड़े में भरा हुआ है तो वह उसके अणु–अणु से बाहर आये बिना नहीं रहेगा। जैसे कांच की हंडिया अलग है और दीपक अलग है। परन्तु जब दीपक को कांच की हंडिया में रखकर जलाते हैं तो उसका प्रकाश हंडिया के अणु–अणु से निकलने लगता है। यदि कांच की हंडिया दीपकरहित है तो वह कोई प्रकाश नहीं देगी। वैसे ही शरीर आत्मा से रहित है तो वह बेकार है, जड़ है। उसमें शांति सुधा रस नहीं है, अमृत का झरना नहीं है।

१११. दुनिया के कांटे

दुनिया के अन्दर चारों तरफ कांटे ही कांटे बिछे हुए हैं। तीक्ष्ण शूलें दिख रही हैं। व्यक्ति सोचता है कि मैं कैसे चलूं ? ये शूलें मेरे पैरों में चुभ जाएंगी। परन्तु यदि वह विवेक के साथ चिंतन करे तो उन शूलों से डरने की स्थिति नहीं रहेगी। यदि वह इस कल्पना से चले कि मैं इन सब शूलों को साफ करके बिलकुल साफ रस्ते पर चलूं तब वह न तो उन शूलों को साफ कर सकेगा और न चल ही सकेगा। कहावत है–

न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।

यह तो कठिन मार्ग है। यदि तुम्हें इस पर चलना हो तो अपने पैरों में पादत्राणिका ग्रहण करलो। आप उसे सीधे शब्दों में गृहस्थ अवस्था में जूते या पगरखी बोल देते हैं। जिसने जूतियां पहन रखी हैं तो फिर कांटे उसका क्या बिगाड़ करेंगे ? तब वह तो बेधड़क चलेगा। उसको कोई भी कष्ट होने वाला नहीं है।

वैसे ही यदि आप जीवन को निर्मल बनाना चाहते हैं तो दुनिया की मलिनता के कांटों को छू–छूकर अपने–आपको दुःखी क्यों बना रहे हैं। आप क्यों नहीं अपने जीवन में आवरण लगा लें कि जिससे सारी की सारी दुनिया मलिन कांटों से भरी रहे परन्तु आपका जीवन तो अबाध गति से इस प्रकार चले कि कोई आपका कुछ भी न बिगाड़ सके। युद्ध के मैदान में जाने वाला सेनानी अपने शरीर पर कवच पहन लेता है तो फिर कितने ही तीक्ष्ण बाण क्यों आएं, परन्तु उसे चोट नहीं लगती। वैसे ही यदि आप अपने जीवन में धार्मिकता–नैतिकता का कवच पहन लेते हैं और सामाजिक कुरीतियों को मिटाने की दृष्टि से फिजूल खर्च को मिटा देते हैं तो इस दुनिया की मलिनता और कांटे आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकेंगे।

११२. चोर को पहचानो

मान लीजिए की एक गृहस्थ अपने स्थान पर बैठा हुआ है। उसके घर में कोई चोर प्रवेश कर रहा है। यदि मालिक उसे चोर न समझकर साहूकार समझ रहा है तो वह बेधड़क घर में प्रवेश करेगा। परन्तु यदि घर का मालिक उस चोर को चोर समझ लेता है और कहता है कि तुम आ तो रहे हो परन्तु मैं

समझता हूं कि तुम चोर हो। तुम मेरे घर में चोरी करने आए हो तो करो चोरी, मैं बैठा हूं। ऐसी हालत में क्या वह चोर आपके घर में चोरी कर सकेगा ? चोर समझेगा कि मुझे चोर मान लिया गया है तो अब मैं यहां चोरी कैसे करूं ? वह भाग खड़ा होगा।

जैसे उपर्युक्त परिस्थिति में घर का मालिक चोर को चोर समझ लेता है और उसे सम्बोधन करके अपने घर की सम्पत्ति सुरक्षित रख लेता है, इसी प्रकार इस घर का मालिक अर्थात् आत्मा भी यदि अपनी बुरी आदतों को लुटेरा समझ ले और उन्हें सम्बोधन करे कि देखो, मैं तुम्हें पहचान गया हूं, तुम मेरी अमुक–अमुक आत्मिक सम्पत्ति को चुराने आए हो। मैं बैठा हूं, अब तुम चोरी कैसे कर सकते हो ? इस प्रकार की सावधानी यदि इस आत्मा में आ जाए तो उसके पाप, बुराइयां कभी नहीं रह सकेंगी।

११३. भ्रान्त धारणा : माल भी खाना, मुक्ति भी जाना

कई व्यक्तियों की यह अभिलाषा रहती है कि माल खाना और मोक्ष में भी जाना। वे दोनों हाथ लड्डू रखना चाहते हैं परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। अधूरे–अधकचरे विचारकों ने यह सस्ता नुस्खा भोले जीवों को भ्रमित करने के लिए पकड़ा दिया है। ऊपर–ऊपर से यह नुस्खा बड़ा मोहक और लुभावना लगता है। हर कोई ऐसा सीधा–सरल तरीका अपनाना चाहता है। परन्तु बन्धुओ ! याद रखना चाहिए कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। पदार्थों का मोह भी बना रहे और मोक्ष भी मिल जाए, ऐसा कभी न हुआ है और न होगा। यदि ऐसा सीधा रास्ता होता तो अतीत काल के तीर्थंकर और महापुरुष राज्य और वैभव–विलास के परित्याग का और वनों में रहकर कठोर तप और साधना करने का कठिन मार्ग क्यों अपनाते ?

भोग–विलास और एश्वर्य के वातावरण में रहकर केवल भावना के बल पर मोक्ष की साधना की बात जितनी सरल है, उसका आचरण उतना ही कठिन है। सत्ता और सम्पत्ति को, चाहे वह व्यक्तिगत हो या राष्ट्रीय हो, अपने अधीन रखने वाला व्यक्ति अपनी भावना को सात्त्विक रख सके, यह अत्यंत ही कठिन और दुःशक्य है। यदि भावना की शुद्धि से ही आत्मा को ऐसी परम उपलब्धि हो जाती हाती तो तीर्थंकर और दूसरे हजारों महापुरुष राज्य वैभव को न छोड़ते और तपश्चर्या के कठोर मार्ग का अवलम्बन न लेते और न ऐसा करने का उपदेश ही देते। अतः इस मिथ्या धारणा को दिमाग से हटा देना चाहिए। इस

सस्ते नुस्खे के चक्कर में नहीं आना चाहिए। यदि इस नुस्खे का सहारा लिया जाएगा तो यह आत्म–वंचना होगी।

आत्मा की वर्तमान विडम्बनापूर्ण स्थिति पर–पदार्थों के संसर्ग के कारण ही तो है। इस संसर्ग को हटाए बिना आत्मा का उद्धार कैसे हो सकता है ? पदार्थों की ममता–मूर्च्छा ही तो आत्मा को मलिन कर रही है। यदि हम आत्मारूपी दर्पण को स्वच्छ करना चाहते हैं तो इस ममता के मैल को धोना ही पड़ेगा। अतएव बाह्य पदार्थों की ममता का परित्याग करके ही साधना के मार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है। अनेक महापुरुषों ने यही मार्ग अपनाया है और इसी से आत्मा को कर्मों की कैद से मुक्त किया है। मोह–ममता में रहकर किसी भी आत्मा ने मुक्ति नहीं पाई है।

११४. दुर्लभ मानव जीवन का सदुपयोग हो

बहुत पुण्य के पुंज एकत्रित होते हैं तब मानव का शरीर प्राप्त होता है। यह अत्यंत दुर्लभ उपलब्धि है। ऐसे सुन्दर सुअवसर को प्राप्त करके यदि भवचक्र को मिटाने का प्रयास नहीं किया और आत्मा की वही स्थिति बनी रही, भवचक्र का एक भी चक्कर कम न हुआ तो बहुत पुण्य से प्राप्त मानव–भव अकारथ ही चला जाएगा। चिंतामणि रत्न पाकर कौए को उड़ाने में यदि उसे फेंक दिया तो चिंतामणि का पाना, न पाना एक–सा ही हो जाता है। मानव–भव चिंतामणि रत्न के समान है। इसका सदुपयोग आत्मा के कल्याण के लिए कर लेना चाहिए।

११५. सहिष्णुता

सन् 1615 की घटना है। काशी–नरेश के पेट का ऑपरेशन किया जाना था। ऑपरेशन के पूर्व आमतौर पर रोगी को बेहोश किया जाता है। काशी–नरेश ने कहा–'डॉक्टर, मुझे बेहोश मत करिये। मैं होशोहवास में ऑपरेशन करवाना चाहता हूं।' डॉक्टर ने कहा–'बड़ा ऑपरेशन है, दो घण्टे लगेंगे। इतने समय तक वेदना सहन नहीं की जा सकती। पेट चीरना है, मामूली काम नहीं है। इतनी वेदना इन्सान नहीं सह सकता। वह छटपटाने लगेगा। हिलेगा–डुलेगा ही नहीं उछलने लगेगा। जीवन खतरे में पड़ेगा और डॉक्टर का पाटिया गोल

हो जाएगा। मैं यह खतरा लेने को कतई तैयार नहीं हूं।'

काशी–नरेश ने कहा, 'मैं दो घण्टे चूं तक नहीं करूंगा। आप ऑपरेशन करके देखिए। मैं बेहोश होना नहीं चाहता।'

डॉक्टर को विश्वास नहीं हुआ। उसने नरेश की कसौटी के लिए प्रयोग करना चाहा। नरेश ने कहा–'प्रयोग करके देख लो।' प्रयोग शुरू हुआ। नरेश ने ध्यान लगा लिया। होशोहवास की स्थिति में उसके हाथ पर चाकू का प्रयोग किया गया। खून बहा। नरेश बिलकुल शांत थे। दो घण्टे तक उन्होंने चूं तक नहीं की। डॉक्टर हैरान था। दो घण्टे के बाद डॉक्टर ने पूछा–'वेदना हो रही है ?'

उत्तर मिला–'इतनी देर तक तो नहीं किन्तु अब वेदना का अनुभव हो रहा है। पहले मेरी दृष्टि अन्यत्र थी, मेरी वृत्ति अन्यत्र लगी हुई थी, मेरा ध्यान अन्यत्र केन्द्रित था।'

डॉक्टर आश्चर्यचकित था। आखिर काशी–नरेश की इच्छानुसार बिना बेहोश किए उनके पेट का ऑपरेशन किया गया। वे असाधारण रूप से शांत रहे। दो घण्टे तक बिलकुल चुपचाप, बिना हिले–डुले, शांत भाव में स्थिर रहे। यह अपने ढंग का पहला उदाहरण है। यह एक ऐतिहासिक प्रसंग है। कालांतर में उन्होंने राज्य त्यागकर आध्यात्मिक साधना में अपना जीवन लगाया।

११६. प्रार्थना का प्रभाव

प्रार्थना के माध्यम से भक्त की हृदय–तंत्री के तार झंकृत हो उठते हैं। इतना ही नहीं, प्रार्थना के समय भक्त के हृदय के तार परमात्मा के साथ जुड़ जाते हैं जिससे उसका हृदय प्रकाशमान हो जाता है। पावर–हाउस (बिजलीघर) से तारों के माध्यम से सम्बन्धित होते ही जैसे लट्टू (बल्ब) रोशनी से जगमगाने लगता है वैसे ही प्रार्थना के द्वारा परमात्मा का सम्पर्क होते ही भक्त का हृदय प्रकाशमान हो उठता है, पाप की कालिमा नष्ट हो जाती है और वासनाओं की गन्दगी मिटकर हृदय साफ–सुथरा बन जाता है। प्रार्थना वह पथ्य है जो हृदय के रोगों को मिटाकर उसे अरोग्य और आनन्द प्रदान करता है।

११७. मोह को जीतो

तीर्थंकर जैसे महती शक्ति के धारक महापुरुषों ने भी जब मोह पर विजय पाने हेतु कठोर साधना का मार्ग अपनाया तो आपकी और हमारी क्या बिसात जो हम सहज ही–बिना किसी कठोर साधना के मोह को परास्त कर सकें। उन महापुरुषों ने कितनी कठोर जीवनचर्या अपनाई। कितने महीनों तक निराहार रहे। कितने वर्षों तक परीषह–उपसर्गों को स्थिर–चित्त से सहन करते रहे। ध्यान की कितनी कठोर प्रक्रियाएं अपनाईं। आज तो चार लोगस्स का ध्यान करने बैठते हैं तब भी मन इधर–उधर दौड़ने लगता है। जरा–सा मच्छर आकर बैठ जाता है तो ध्यान की धारा खण्डित हो जाती है। ऐसी स्थिति में बिना विशेष प्रयत्न के सहज ही मोह को जीतने का बात करना आत्मप्रवंचना मात्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मोह को जीतना असम्भव है। मोह को जीता जा सकता है लेकिन उसके लिए आवश्यकता है दृढ़ संकल्प और प्रबल पुरुषार्थ की।

११८. आभ्यंतर विकृति की भयंकर परिणति

विश्व के वातावरण पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि पापमय वासनाओं से आत्मा का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता चला जा रहा है, मानव–समाज विकारों की गन्दगी से बुरी तरह ग्रस्त होता चला जा रहा है। जहां गंदगी का विस्तार है वहां स्वास्थ्य का ह्रास अवश्यम्भावी है। बाहर की गंदगी अधिक से अधिक एक जीवन के लिए खतरनाक होती है लेकिन आभ्यंतर की गंदगी एक नहीं, अनेक जन्म–जन्मान्तर के लिए खतरनाक होती है। इस आभ्यंतर विकृति की भयंकर परिणति सैकड़ों–हजारों जन्मों तक अशुभ फल–परम्परा के रूप में होती है। अतएव यह गंदगी अत्यंत भयंकर है। इस गंदगी को हटाने के लिए मनुष्य को पहले यह देखना होगा कि यह गंदगी कहां से आ रही है। गंदगी के उद्‌गम का सूक्ष्मता से विश्लेषण किये बिना उसको मिटाया नहीं जा सकता। बाह्य गंदगी तो स्पष्ट मालूम होती है। कपड़े मैले हैं, शरीर पर मैल जमा है, घर में कूड़ा–कचरा इकट्ठा हो रहा है, मक्खियां भिनभिना रही हैं, डांस–मच्छरों की बहुलता है–इन सबसे बाहरी गंदगी को जान लिया जाता है और उसके निवारण के उपाय भी आसानी से किये जा सकते हैं, परन्तु आभ्यंतर गंदगी के विषय में ऐसी बात नहीं है। उस आभ्यन्तर गन्दगी को पकड़ पाना आसान नहीं है। बाह्य गंदगी के सूक्ष्म कीटाणुओं को तो सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा जा सकता है परन्तु आन्तरिक विकृति के सूक्ष्म अंश आत्मा की भीतरी तहों में इस प्रकार छिपे रहते

हैं कि उन्हें पकड़ने की शक्ति किसी सूक्ष्मदर्शक यंत्र में नहीं है। उन्हें पकड़ने के लिए तो उनके अनुरूप यंत्र की आवश्यकता रहती है। वह यंत्र है अन्तःसमीक्षण।

११९. वासना के मूल को काटो

टहनियों और पत्तों को नोचने की अपेक्षा मूल को उखाड़ना ही कारगर और सार्थक होता है। ऊपर की निष्पत्ति हटा दी जाने पर भी यदि मूल शेष रह जाता है तो वह पुनः उग उठता है। सुना जाता है कि बाजरे की टहनी कोमल अवस्था में काट दी जाती है तो पुनः फूट आती है। मेवाड़ और मारवाड़ में रिजका (रजका) नाम का पौधा होता है जिसे काटने पर वह पुनः पनपता रहता है। उसकी समाप्ति तभी होती है जब उसे जड़ से उखाड़ दिया जाता है। अतएव वासनाओं को जड़–मूल से उखाड़ने का प्रयास करना चाहिए।

अफसोस इस बात का है कि मानव अपनी आत्मा को ऊपर–ऊपर से शुद्ध करता है लेकिन जड़ को नहीं पकड़ता है। जड़ को पकड़कर उसे उखाड़ने का प्रयत्न नहीं करता है। मूलतः सोचने का विषय यह है कि आत्मा की दुर्दशा का मूल क्या है। उस मूल को ही पकड़ने का प्रयत्न किया जाए, पत्तों और टहनियों को नोचने का निरर्थक श्रम क्यों किया जाए।

आत्मा की दुर्दशा का मूल कारण है मोह। मोह वह मादक मदिरा है जो आत्मा को बेभान बना देती है। केवल इतना ही नहीं, मोह की मदिरा में दोहरी शक्ति होती है। मदिरा तो व्यक्ति की चेतना को केवल आच्छादित करती है जबकि मोह आत्मा की चेतना को आच्छादित करने के साथ ही साथ उसे विपरीत दिशा में–मिथ्यात्व में–पटक देता है। जिसके फलस्वरूप आत्मा सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, हित को अहित और अहित को हित समझने लगती है। अपना स्वरूप भूलकर वह पर–रूप में रमण करने लगती है, अपना स्वरूप उसे तुच्छ लगने लगता है और पौद्‌गलिक पदार्थों के क्षणिक सुखाभास में सुख की अनुभूति करने लगती है। यह आत्मा की भयंकर दुर्दशा और विडम्बना है। इसका एकमात्र कारण मोह ही है। इसी को जड़–मूल से उखाड़ना है।

१२०. मदिरा-निर्माण की घृणित प्रक्रिया

मदिरापान की आदत वाले भाई भी यदि मदिरा के बनने की प्रक्रिया पर

ध्यान दें तो सम्भव है कि उन्हें स्वयमेव मदिरा से घृणा हो जाए। मदिरा बनाने वाले महुओं को सड़ाते हैं, उनमें लम्बे–लम्बे कीड़े पड़ जाते हैं। उन कीड़ों वाले महुओं को बर्तन में डालकर आग पर चढ़ाकर उबालते हैं जिससे कीड़ों का रस भी उसमें मिल जाता है। चाहे आज के वैज्ञानिक युग में शराब तैयार करने की कोई नई प्रक्रिया हो, परन्तु वह भी निर्माणाधीन दशा में घृणित और दुर्गंधपूर्ण होती है। तैयार हो जाने के बाद आकर्षक बोतलों में विविध नामों के साथ भले ही वह प्रस्तुत की जाती हो परन्तु वह अत्यंत घातक और हानिप्रद है। अतएव मदिरापान से प्रत्येक सद्‌गृहस्थ को अवश्यमेव बचना चाहिए।

जिस प्रकार यह मदिरा गृहस्थ के जीवन को झकझोर देती है, इसी प्रकार मोह की मदिरा आत्मा को झकझोर देती है जिससे आत्मा चतुर्गति में भटकती रहती है। अतएव मोह को हटाकर अपने जीवन रूपी कपड़े को धर्म के रंग में रंग लेना चाहिए। संयम के रंग में रंगने से जीवन की सार्थकता है।

१२१. कर्मों का राजा : मोह

आठ कर्मों में मोहकर्म सबसे अधिक शक्तिशाली है। अतएव वह आठ कर्मों का राजा कहलाता है। मोहकर्म की जब तक प्रबलता रहती है तब तक अन्य सब कर्म भी शिथिल पड़ जाते हैं। जिस प्रकार राजा के पराजित होकर भाग जाने पर सेना भी स्वयं भाग खड़ी होती है उसी प्रकार मोह के पराजित होते ही अन्य कर्म स्वयं पराजित हो जाते हैं। अतएव मोह को उखाड़े बिना आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं। मोह को हटाने का प्रयास ही आत्मा के उद्धार का द्वार खोलना है। परन्तु यह काम आसान नहीं है। मोह की प्रबल अर्गला को तोड़ना साधारण काम नहीं है। इसके लिए दृढ़ संकल्प और अदम्य पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है।

१२२. सदाचार

मानव ने अपने जीवन का सही मूल्यांकन नहीं किया है। ''सदाचार से मानव–जीवन की महत्ता है।'' इस तथ्य को उसने भुला दिया है। यही कारण है कि व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और विश्व में विकृतियां फैल रही हैं, अशान्ति उभर रही है और चारों और उच्छृंखलता का वातावरण बन रहा है। धार्मिक और

नैतिक मर्यादाएं लुप्त हो रही हैं। कर्तव्य–भावना निकल चुकी है। सर्वत्र स्वार्थान्धता और लोलुपता का बोलबाला है।

जीवन के सारभूत तत्त्व सदाचार की ओर अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान कम ही है। समाज और राष्ट्र के अधिकांश कर्णधार भी इस विषय में चिंतन नहीं कर रहे हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति जर्जरित होता चला जा रहा है। पारिवारिक जीवन खोखला हो रहा है। सामाजिक जीवन विशृंखलित हो रहा है। राष्ट्रीय धरातल पर जाएं तो राष्ट्रीय चरित्र का नामोनिशान भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। विश्व की दृष्टि से अपेक्षित सदाचार का कहीं पता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक सुज्ञ और विवेकसम्पन्न व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह इस विषय की ओर अपनी चिन्तनधारा को मोड़े। यह सन्देहातीत तथ्य है कि जब–जब मानव ने सदाचार की अवहेलना की, उस पर विपत्ति के बादल मंडराए हैं, विषमताएं पनपी हैं, जावन का धागा टूटा है, समाज उच्छृंखल बना है और राष्ट्र पर संकट गहराया है। अतएव यदि जीवन का सही मूल्यांकन करना है, यदि नव–निर्माण की शक्ति के साथ वर्तमान को स्वर्णिम आदर्शों पर टिकाना है और भविष्य को उज्ज्वलतर बनाना है तो जीवन में सदाचार को अपनाना ही होगा। सदाचार को अपनाए बिना जीवन में, पारिवारिक परिवेश में, जाति या समाजगत क्षेत्र में, राष्ट्रीय परिधि में और अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में–सर्वत्र सदाचार और अनुशासन की आवश्यकता है।

१२३. पारिवारिक कर्तव्य

पारिवारिक जीवन की शांति हेतु परिवार के सदस्यों में अपने कर्तव्य और उत्तदायित्वों का बोध होना आवश्यक है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि आधुनिक परिवारों में घरेलू वातावरण अशांत और कलुषित रहता है। छोटी–छोटी बातों को लेकर परिवार के सदस्य घर में महाभारत खड़ा कर देते हैं। परिणामस्वरूप घर की शांति नष्ट हो जाती है, घर के टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं, पारिवारिक स्नेह की भावना टूक–टूक हो जाती है और घर का आंगन कलह एवं क्लेश का अड्डा बन जाता है। जो परिवार सुख का आगार बन सकता है, वही कारागार के समान दुःखदायी बन जाता है। इसका एकमात्र कारण है–परिवार के सदस्यों में कर्तव्य भावना का अभाव। यदि परिवार के सदस्य अपने दायित्व को समझकर पारिवारिक आचार संहिता और अनुशासन का पालन करते हैं तो

निस्संदेह वह परिवार सुखी, समृद्ध और शान्त होता है। वहां विषमता का वातावरण व्याप्त नहीं होता। उसकी आर्थिक अवस्था डावांडोल नहीं होती। पारिवारिक जीवन वहां टूटते नजर आते हैं, जहां परिवार के सदस्य अपनी जिम्मेदारियों को भुला कर एक ही व्यक्ति पर निर्भर हो जाते हैं। परिवार में एक ही व्यक्ति कमाए और शेष व्यक्ति हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें–उपभोग मात्र करें, तो उस परिवार की दशा विकृत और विषम हो जाती है। पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए परिवार के सभी सदस्यों को अपने कर्तव्य का बोध होना चाहिए।

१२४. आध्यात्मिकता की ओर झुकाव : भौतिकी वैज्ञानिकों का

विश्व में वैज्ञानिक क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई है। विज्ञान ने भौतिक दृष्टि से बहुत विकास किया है। नित्य नये अनुसंधानों ने विश्व को चमत्कृत किया है। निस्संदेह भौतिक दृष्टिकोण से विज्ञान बहुत आगे बढ़ चुका है। परन्तु इन अनुसंधानों का लक्ष्य मात्र भौतिक होने के कारण दुनिया के आंगन में जो सुख–शांति परिलक्षित होनी चाहिए थी, वह नहीं हो रही है। इतना ही नहीं, इन अनुसंधानों के कारण विश्व में अशांति का वातावरण बढ़ा है। यह सब निराशाजनक स्थिति है, परन्तु इस बीच अब आशा की किरण प्रस्फुटित हो रही है। भौतिकवादी वैज्ञानिक अब इस सत्य और तथ्य को समझने लगे हैं कि एकान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण विश्व के लिए हितकारी नहीं है। उन्हें अब अनुभव होने लगा है कि भौतिकता ही सब–कुछ नहीं है। जिन लोगों ने भौतिक साधनों के सहारे दुनिया में रक्तक्रांति का सूत्रपात किया और जो बहुत दूरी तक इस मार्ग पर चले, वे भी अब अनुभव करने लगे हैं कि दुनिया में शांति स्थापित करने का यह सही मार्ग नहीं है। उनकी दृष्टि अब बाहर से हटकर अन्दर की ओर मुड़ती हुई दृष्टिगत होती है। वे समझने लगे हैं कि आध्यात्मिक धरातल पर ही सच्चरित्रता स्थायी रह सकती है। नैतिकता भी आध्यात्मिक आधार पर पुष्ट होती है अन्यथा वह प्रदर्शन और व्यवसाय का रूप ले लेती है।

इस आध्यात्मिकता की ओर जिन वैज्ञानिकों का ध्यान गया है, उनमें प्रमुख स्ट्रांगबर्ग हैं जिन्होंने मानव जीवन के विषय में महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है और अभौतिक तत्त्व की स्थापना प्रतिपादित की है। उन्होंने अपनी 'यंग युनिवर्स' नामक पुस्तक में, जो अभौतिकता का विवेचन प्रस्तुत किया है, वह

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद का क्रांतिकारी विवेचन माना जाता है। उसकी भूमिका लिखी है डॉ. आइन्सटाइन ने। वैज्ञानिक अनुसंधान की सभी शोध–संस्थाओं ने उसका हृदय से स्वागत किया है। वह अभौतिक तत्त्व अध्यात्म की ओर संकेत कर रहा है।

हमारे यहां की कुछ विचित्र ही स्थिति है। पश्चिम के लोग भौतिकता से ऊबकर, त्रस्त होकर, परेशान होकर जहां अन्यत्र शांति की खोज कर रहे हैं, वहां भारतीय जनता का मानस भौतिकता की ओर ललचाई दृष्टि से देख रहा है। यह भारतीय जनता के लिए लज्जा का विषय होना चाहिए कि पाश्चात्य देश जिसे उतार कर फेंक रहे हैं, उसे भारतीय अपना शृंगार समझ रहे हैं। यूरोप, अमेरिका या रूस के लोग जहां भौतिकता से ऊब चुके हैं और वे अभौतिक तत्त्व की प्राप्ति के प्रति उत्सुकता प्रकट कर रहे हैं, वहां भारतीय जनता विरासत में प्राप्त अध्यात्म को भुलाकर भौतिकता की ओर कदम बढ़ा रही है। यदि सुख–शांति की तीव्र पिपासा है तो भौतिकता को छोड़, आध्यात्मिकता अपनानी होगी।

१२५. युवकों की धर्म के प्रति अरुचि का मूल

बुजुर्ग आज युवकों की गलतियां निकालते हैं कि युवक बिगड़ गए। वे कॉलेज में अपनी जिन्दगी व्यतीत कर रहे हैं। धर्म–कर्म को भूल गए। न मां–बाप की सेवा करते हैं और न ही धर्म को समझते हैं। अपनी स्वच्छन्दता से ही चलते हैं। इस प्रकार के आरोप बुजुर्गों के चलते हैं तो युवक लोग भी पीछे नहीं रहते। वे कहते हैं कि हम क्या धर्म–कर्म करें, पहले धर्म–कर्म का स्वरूप तो हमें समझाया जाए।

आज के युग में बौद्धिक धरातल का बहुत विकास हुआ है। वे अपने बौद्धिक विकास से आत्मा और परमात्मा के विषय में प्रश्न करते हैं। भगवान ने कहा–"माणुसुत्तं दुल्लहा" मनुष्यत्व दुर्लभ है, तो सिद्ध कीजिए साधु क्या है ? आचरण क्या है ? ऐसे कई प्रश्न युवकों के होते हैं। वे उनका समाधान चाहते हैं। उनके मन में जिज्ञासा है। जिज्ञासा से ही वे माता–पिता के सामने पेश आते हैं। पर जब बुजुर्ग लोग समाधान नहीं कर पाते तो डांट देते हैं कि तुम नास्तिक हो गए हो, जबकि वे नास्तिकता से प्रश्न नहीं करते अपितु समझने के लिए प्रश्न करते हैं। यदि उनका समाधान योग्य स्थल पर हो जाय–माता–पिता कर दें तो वे कभी धर्म से विमुख नहीं बनते।

मैं कभी–कभी सोचता हूं कि बड़े–बुजुर्गों में जितनी तत्त्वों की रुचि नहीं है, उतनी आज के पढ़े–लिखे युवकों में है। वे समझना चाहते हैं। उनकी भाषा में उनको समाधान मिलना चाहिए। माता–पिता यदि समाधान नहीं दे पायें तेा उनको सौम्य शब्दों में समझाना चाहिए कि तुम्हारे प्रश्न उत्तम हैं, परन्तु मेरे अन्दर इतनी योग्यता नहीं है। तुम नोट करलो, कोई अच्छे संत आयेंगे तब तुम्हें ले जाकर तुम्हारे प्रश्नों का समाधान करायेंगे। इस प्रकार से समझाया जाय तो वे धर्म से किनारा नहीं करेंगे। ऐसे शब्दों के बजाय यदि आप उन्हें डांट देते हैं, उनकी जिज्ञासा वृत्ति को ठुकरा देते हैं तो वे अगर धर्म के नजदीक भी होते हैं तो हट जाते हैं। कभी युवक संत के पास पहुंचें और वे उनका समाधान नहीं कर पायें तो सन्त सरलता से कह दें कि जितना मेरे ज्ञान में है उसी से समाधान कर रहा हूं, फिर भी तुम्हारा समाधान नहीं हो पाया हो तो कोई बड़े विद्वान संत आएं तब अपनी तृप्ति कर लेना। इस प्रकार सरलता से व्यवहार हो जाता है तो वे कभी भी धर्म से दूर नहीं भागते हैं। परन्तु जब वे स्वयं समाधान नहीं कर पाते तब तिलमिला जाते हैं और उन्हें डांटने लगते हैं कि तुम तो बिगड़ गए हो, तो युवक नजदीक आते हुए भी दूर भाग जाते हैं।

युवकों में कई खूबियां भी हैं, परन्तु बुजुर्गों का क्रियाकलाप क्या हो रहा है? जब उनका व्यवहार ठीक नहीं बनता, उनकी धार्मिक क्रियाएं ठीक नहीं बनती, सामाजिक संवर, पौषध क्रियाएं करते हुए कहीं त्रुटि रह गई हो तो उसे सरलता से स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार करने पर युवक और बुजुर्गों में अच्छी तरह समझौता हो सकता है। युवक सोचें कि ये बुजुर्ग हैं, अनुभवी हैं और इनमें होश है तो हम युवक जोश के साथ इनकी छत्रछाया में क्रांति करें। परिवार, समाज और देश में क्रान्ति करें। इस प्रकार दोनों परस्पर समझकर चलें तो दोनों में समन्वय सध सकता है। अलग–अलग कड़ी हो जाएं तो समन्वय नहीं सध सकता। मानव अपने जीवन को निखार सकता है, अपनी लाइट जगा सकता है। परन्तु जगेगी कब ? जबकि खुद की तैयारी होगी। भगवान महावीर ने इसीलिए पहले मानवता की बात कही। इसके लिए सबसे पहले खूबी आनी चाहिए कि युवकों और बुजुर्गों का जो संघर्ष है वह समन्वय के रूप में परिणत हो जाए। बुजुर्गों के क्या विचार हैं, इसे युवक समझें और युवकों के क्या विचार हैं, इसे बुजुर्ग समझने की क्षमता रखें। यह नहीं कि जरा–जरा–सी बात पर तिलमिला उठें। बुजुर्ग उनकी बात पूरी तरह सुनें और शांति के क्षणों में उनका उत्तर दिया जाय। इस प्रकार समन्वय का मार्ग निकल आता है।

आज के युवकों को मानवता के धरातल पर विशेष आदर्श प्रस्तुत कर

एकता का भव्य प्रसंग उपस्थित करना चाहिए। जब तक उनमें एकता नहीं आएगी, तब तक युवक भी कुछ नहीं कर पाएंगे। अमूल्य मानव तन निरर्थक चला जाएगा। मैं तो चाहता हूं कि युवक धक्के खायें तब भी आगे बढ़ें। मैं कभी–कभी रूपक दे दिया करता हूं कि प्रगतिशील युवक वह है जो अपने रास्ते पर चलता रहता है। कितनी ही आपत्तियां आएं, परन्तु हतोत्साहित नहीं हो, अबाध गति से चलता रहे, लेकिन जोश और होश बराबर रखे। केवल होश रखे, जोश नहीं रखे या केवल जोश रखे परन्तु होश नहीं रखे तो काम नहीं चलेगा। जब दोनों आ जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि गति और प्रगति में रुकावट हो।

१२६. उल्टी गंगा बह रही है

दुनिया के अन्य देशों का ध्यान भारत की आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हो रहा है। वे भारत–भूमि को आध्यात्मिक जीवन की जननी मानते हैं। यहां आकर वे जीवन में शांति का अनुभव करने की अभिलाषा रखते हैं। आत्मिक साधना के प्रति उनमें जिज्ञासा और रुचि जाग्रत् हो रही है। परन्तु दुःख का विषय है कि भारतीय जनता अपनी मौलिकता को नष्ट कर भौतिकता की भूलभुलैया में फंसती चली जा रही है। आत्मिक वैभव के उत्तराधिकारी स्वयं को दीन–हीन मानकर अमेरिका, रूस आदि विदेशों की ओर ललचाई दृष्टि से देख रहे हैं जबकि विदेशी जनता भारत की आध्यात्मिक सम्पदा से आकर्षित हो रही है। भारतवासी भौतिक सम्पदा की भूख से अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि देशों की ओर देख रहे हैं। इस प्रकार यहां उल्टी गंगा बह रही है।

भारतीय जनता का मानस इतना गुलाम बन गया है कि उन्हें अपनी संस्कृति, नीति–रीति अच्छी नहीं लगती और प्रत्येक क्षेत्र में विदेशों की नकल करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य हो गया है। विदेशों की जनता भारत से, उसकी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सम्पदा से बहुत–कुछ अपेक्षाएं रखती है, जबकि भारतवासी रूस की रक्तक्रांति से प्रभावित हो रहे हैं। वे रूस और चीन की नीतियों के राग अलाप रहे हैं जबकि वहां की जनता उनको असफल मानकर अन्य मार्ग की शोध में लगी हुई है। भारतीय जनता की यह अविवेकपूर्ण नकल–वृत्ति उनके दिमाग की गुलामी को अभिव्यक्त करती है।

दूसरों की तरह अविवेकपूर्ण दृष्टि रखने से, पराई वस्तु को ही अच्छी मानने से दशा विषम और दीन–हीन बनी हुई है। यदि भारतीय जनता

उत्तराधिकार में मिले हुए अपने सिद्धांतों पर, चरित्र–निष्ठा पर प्रामाणिकतापूर्वक आचरण करती तो वह विश्व में सबसे अग्रगण्य होती।

अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, अब भी संभलने का अवसर है। यदि सुख–शांति चाहते हो, यदि प्रगति की दौड़ में आगे बढ़ना चाहते हो तो इसके लिए एक ही उपाय है, चरित्र की प्रतिष्ठा। यदि सच्चरित्र को महत्त्व दिया जाए, उसका वास्तविक मूल्यांकन किया जाए, उसको जीवन का मापदण्ड बनाया जाय, उससे व्यक्ति को तोला जाय तो भारत का सारा नक्शा ही बदल सकता है। आवश्यकता है कि इस चारित्र्य गुण को जीवन के हर क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठित किया जाय। व्यक्तिगत जीवन में, पारिवारिक परिवेश में, धर्म और समाज के क्षेत्र में, राष्ट्रीय परिधि में और विश्व के विशाल दायरे में चारित्रिक गुणों का विकास किया जाए। ऐसा करने से उन सभी समस्याओं का समाधान हो जाएगा जो आज भयंकर रूप में देश और विश्व के सामने खड़ी हैं।

१२७. यौवन का विस्फोटक रूप

जवानी अपने–आप में इतनी दीवानी है कि यदि इस पर नियंत्रण नहीं रखा जाए तो यह भयंकर अनर्थों की परम्परा को जन्म देती है। यह शांत और सुखी जीवन में आग लगाने वाली हो सकती है। जवानी (यौवन) के साथ यदि धन–सम्पत्ति का योग हो जाय जो अनर्थों की संभावना एक पर एक ग्यारह की तरह बढ़ जाती है। यदि इसके साथ प्रभुत्व (सत्ता) मिल जाए तो एक सौ ग्यारह की तरह अनर्थों की संभावना बहुत अधिक बढ़ जाती है। यदि इनके साथ अविवेक भी जुड़ जाए तो फिर कहना ही क्या है, सर्वनाश ही समझ लेना चाहिए। यौवन, धन–सम्पदा, सत्ता और अविवेक–ये चारों अलग–अलग भी भयंकर अनर्थकारी होते हैं। जब ये चारों एक स्थान पर एकत्र हो जाएं तब तो कहना ही क्या ? उस परिस्थिति में सर्वथा बरबादी ही समझ लेनी चाहिए। वे सर्वनाश के कारण बनते हैं।

१२८. गांधीजी का आत्मबल

दक्षिण अफ्रीका की घटना है। वहां मजदूरों और मालिकों के बीच वेतनवृद्धि और कार्य के घंटों को लेकर विवाद हो गया था। गांधीजी ने मजदूरों के पक्ष को उचित माना, अतएव वे उनका मार्गदर्शन कर रहे थे। मालिकों ने

सोचा कि यह गांधी मजदूरों को प्रोत्साहित कर रहा है, अतएव इसको ही अपने पक्ष में कर लेना उचित है। यह गांधी गरीब देश–हिन्दुस्तान से आया है, शायद यह पैसों का भूखा है। उन्होंने गांधीजी को एकान्त में बुलाया और कहा, "मिस्टर गांधी ! तुम दस–बीस हजार रुपये ले लो। इन मजदूरों का दिमाग खराब मत करो।"

गांधीजी ने उत्तर दिया–"मैं मजदूरों का माथा खराब नहीं कर हा हूं अपितु उनका मस्तिष्क सुधार रहा हूं। मैं पैसों का गुलाम नहीं हूं। मैं न्याय–नीति में विश्वास करता हूं। अहिंसा में मेरी आस्था है। मजदूरों को उनके श्रम का उचित पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए। उनसे उचित सीमा तक ही काम लिया जाना चाहिए। वे मानव हैं और उन्हें मानवीय अधिकार किसी भी कीमत पर मिलने ही चाहिएं–ऐसा मेरा दृढ़ मन्तव्य है।"

मालिकों ने गांधीजी को फुसलाने के बहुत प्रयास किए। बड़े–बड़े प्रलोभन दिए, परन्तु गांधीजी नीति पर दृढ़ रहे। प्रलोभन कारगर नहीं हुए तो उन्होंने गांधीजी को धमकी दी। एक व्यक्ति पिस्तौल लेकर खड़ा हो गया और कहने लगा–"मिस्टर गांधी ! अपने इष्टदेव को याद करलो। बटन दबाते ही समाप्त हो जाओगे।"

गांधीजी का उत्तर बड़ा मार्मिक था। वे बोले–"जो व्यक्ति मुझे इष्टदेव के स्मरण की बात कहता है, वह मुझे कभी नहीं मार सकता।"

उस व्यक्ति के हाथ से पिस्तौल नीचे गिर पड़ी। वह थर–थर कांपने लगा। गांधीजी वहां से निकल आए।

१२९. धम्मो सुध्दस्स चिट्ठइ

जैसे शुद्ध पात्र में रहा हुआ दूध विशेष रूप से गुणकारी होता है, उसकी शोभा में विशेष वृद्धि हो जाती है, उसी तरह हृदय में धर्म की प्रतिष्ठा की जाती है तो वह महत्त्वपूर्ण हो जाती है। जैसे मणिरत्न अपने–आप में अनुपम प्रभा और आभा से सम्पन्न होता है किन्तु जब वह स्वर्ण के साथ संयोजित होता है तो उसकी चमक–दमक कई गुणा बढ़ जाती है। उसी तरह शुद्ध हृदय में स्थापित किया हुआ धर्म अलौकिक गुणों से मण्डित हेा जाता है।

१३०. जीवन में मोड़ कैसे और कब हो

जीवन कोमल रुई के समान है। कुशल कलाकार अपने पुरुषार्थ से जैसे वस्त्र का निर्माण करना चाहता है, वैसा उस रुई से बना लेता है। मिट्टी के मुलायम पिण्ड से कुम्भकार इच्छानुसार पात्रों का निर्माण कर लेता है। इसी तरह जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में जैसे संस्कार और जैसा वातावरण मिलता है, उसी के अनुसार जीवन का निर्माण हुआ करता है। कोमल वय में पड़े हुए संस्कार दिव्य जीवन का निर्माण कर सकते हैं। कोमल लताओं को इच्छानुसार दिशा दी जा सकती है। कोमल बालकों के जीवन को चाहे जिस दिशा की ओर मोड़ा जा सकता है। यदि उनके जीवन को भव्य और दिव्य बनाने की अभिलाषा हो तो उन्हें प्रारम्भ से भव्य और दिव्य संस्कार दिए जाने चाहिएं। यदि आप अपने बालक को दिग्गज विद्वान् बनाना चाहते हैं तो प्रारम्भ से ही उसकी शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। यदि आप उसे दिग्विजयी वीर बनाना चाहते हैं तो प्रारम्भ से ही उसके लिए व्यायाम आदि के संस्कार और साधन अपेक्षित होंगे। यदि आप अपनी सन्तति को आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर अग्रसर करना चाहते हैं तो उसे बचपन से ही वैसे संस्कार देने होंगे। जीवन एक उम्र तक मोड़ ले सकता है।

१३१. साधु-जीवन की गरिमा

इस बात को आप अन्य रीति से समझ सकते हैं। एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपनी परवाह किये बिना अपने परिवार की सेवा में संलग्न रहता है। एक दूसरा व्यक्ति है, जो अपने परिवार की सेवा करने के साथ ही मौहल्ले और गांव वालों की सेवा करता है। यह निर्विवाद है कि पहले व्यक्ति की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति अधिक सेवाभावी माना जायेगा क्योंकि उसकी सेवा का क्षेत्र अधिक व्यापक है। इससे आगे बढ़कर यदि कोई अपनी सेवा के क्षेत्र को राष्ट्रव्यापी बना लेता है तो वह और अधिक सेवाभावी समझा जायेगा। तो जिसने मानवमात्र ही नहीं, प्राणिमात्र की सेवा का व्रत लिया है, वह सर्वोत्तम सेवाभावी कहलाएगा। संतजन अपने सर्वजनहितकारी उपदेशों के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं अतएव वे विश्व के परमोपकारी हैं। वे मानव–समाज के अद्वितीय सेवक और लोकहितकारी हैं। मानव–समाज के अभ्युदय में और विश्व के वातावरण को शांतिमय बनाने में संतों का असाधारण योगदान है। अतएव समाज के लिए संत भारभूत नहीं हैं, अपितु आधारभूत हैं।

१३२. अखूट खजाना

अध्यात्म आनन्द का अखूट खजाना है। अपने ही अन्दर आनन्द का अजस्र स्रोत बह रहा है, परन्तु अफसोस है कि मानव आनन्द पाने के लिये बाहर भटक रहा है। उसके पास सब–कुछ होते हुए भी वह अपने को दरिद्र अनुभव कर रहा है। यह कैसी विडम्बना है कि अपने पास रही हुई वस्तु को मनुष्य बाहर ढूंढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। घर में अखूट खजाना है परन्तु वह छिपा हुआ है। उसे ही अनावृत करने के लिये प्रयत्न होना चाहिए। जो वस्तु जहां है, वहीं वह प्राप्त हो सकती है, जो जहां नहीं है, वहां ढूंढ़ने से वह प्राप्त नहीं हो सकती। आनन्द अन्दर रहा हुआ है। उसे अपने ही अन्दर खोजो, बाहर न भटको। चरित्रनिष्ठा के साथ अध्यात्म के सरोवर में अवगाहन करो, सब पाप और ताप नष्ट हो जाएंगे और अलौकिक शांति प्राप्त होगी।

आप दृढ़ संकल्प करिए कि चाहे जैसी आंधी या तूफान हों, दृढ़ निष्ठा के साथ हमें चलना है, चरित्र को उज्ज्वल बनाना है और आत्मा की आवृत शक्तियों को अनावृत करना है।

१३३. घातक परिणाम : मदिरा से

मदिरा के कारण देवनिर्मित द्वारिका नगरी आग की ज्वालाओं से जलकर राख हो गई। कितना घातक परिणाम होता है मदिरापान का।

यह कहते हुए बड़ा दुःख होता है कि आज के सभ्य कहे जाने वाले वर्ग में भी मदिरापान का प्रचलन बड़े पैमाने पर हो रहा है। पहले तो निम्न समझी जाने वाली जातियों में ही मदिरापान का प्रचलन था परन्तु अब तो इसने फैशन का रूप ले लिया है। समृद्ध और आधुनिकता की दृष्टि से प्रगतिशील समझे जाने वाले घरों में मदिरापान का प्रवेश हो चुका है। स्कूलों, कालेजों और क्लबों में मदिरा के दौर चलते हैं। उगती उम्र के नवयुवक और नवयुवतियां तथाकथित प्रगति और आधुनिकता की हवा में बहकर इस दुर्व्यसन के शिकार बन जाते हैं। यह कितनी घातक प्रवृत्ति है ?

सरकारी आंकड़े यह बता रहे हैं कि मदिरा के द्वारा होने वाली राजकीय आय प्रतिवर्ष कई गुना अधिक बढ़ रही है। यह इस बात का द्योतक है कि मदिरापान की प्रवृत्ति देश में बढ़ रही है जो अत्यन्त घातक और

हानिप्रद है।

भाइयो ! यादवी राजकुमारों ने मदिरापान किया तो द्वारिका नगरी जलकर राख होगई। इसी तरह मदिरापान की आदत कई घरों और परिवारों की सुख–शान्ति और समृद्धि में आग लगा देती है। इस आदत के कारण कई परिवार बरबाद हो गये हैं। उनकी सम्पत्ति मदिरा के ठेकेदारों की जेब में चली जाती है। मदिरा के नशे में वे चेतना भी गंवा देते हैं और सम्पत्ति से भी हाथ धो बैठते हैं। बाल–बच्चे, स्त्री आदि भयंकर मुसीबत में फंस जाते हैं। परिवार बरबाद हो जाता है, नतीजा कुछ हासिल नहीं होता। अतएव मदिरापान की बुरी आदत से छुटकारा पाने से ही परिवार की सुख–शान्ति बनी रह सकती है। जीवन में सुख–शान्ति का संचार और परिवार में समृद्धि तभी तक सम्भव है जब तक मदिरापान की आदत न लगी हो। यह आदत एक बार पड़ जाती है तो वह घर और परिवार को बरबाद किए बिना नहीं रहती। अतएव बुद्धिमानों और विवेकसम्पन्न व्यक्तियों का कर्तव्य है कि वे मद्यपान आदि दुर्व्यसनों से बचकर नैतिकतापूर्ण जीवन बितावें।

१३४. स्त्री-पुरुष का भेद अपेक्षित नहीं

साधना के क्षेत्र में स्त्री–पुरुष का भेद अपेक्षित नहीं है। साधना का सम्बन्ध मुख्यतया आत्मा के साथ है, शरीर के साथ नहीं। आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष। अतः पुरुषत्व का अभिमान वृथा है। संस्कृत के कवि ने कहा हैः–

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।

गुणों का महत्त्व होता है। लिंग या वय का विशेष महत्त्व नहीं। जिस प्रकार वस्त्रों का शरीर की शक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं, यदि पहलवान स्त्री–वेश धारण करले तो इससे उसकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार आत्मा के लिए स्त्री–पुरुष का शरीर वस्त्रतुल्य है। स्त्री–शरीर हो या पुरुष–शरीर, इससे आत्मा की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता है। पुरुषों के समान ही अनेक महिलाओं ने साधना के क्षेत्र में असाधारण पौरुष बतलाकर सिद्धि प्राप्त की है। आजकल तो प्रायः देखा जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं साधना के क्षेत्र में, तपस्या के क्षेत्र में, धर्म के मामलों में विशेष प्रगतिशील हैं। यही नहीं, सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर भी महिलाएं विशेषता लिए हैं।

१३५. अष्ट कर्मों का राजा मोह

अनन्त ज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा ने आत्मा के प्रबल विरोधी और प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी आठ कर्मों का निरूपण किया है। आत्मा की अनन्त शक्ति को प्रतिहत करने वाले ये बड़े प्रबल हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम, मोहनीय, गोत्र और अन्तराय–ये आठ कर्म आत्मा को अपने घेरे में बंद किए हुए हैं। स्वतन्त्र और सार्वभौम चेतनराज, पराये घर जाकर, पर परिणति में पड़कर, कर्मों के चुंगल में फंस गया है। उसकी स्वतन्त्रता, सार्वभौमता, अनन्त शक्तिसम्पन्नता छीन ली गई है। कर्म लुटेरों ने उसके वैभव को लूट लिया है। वह अभी दीन–हीन अवस्था में कर्मों की कैद में पराधीन दशा भोग रहा है। इन कर्म–लुटेरों का सरदार "मोह" बड़ा दुर्दान्त है। वह आठ कर्मों का राजा है। संसार में इस मोहराज का बड़ा वर्चस्व है। चारों तरफ इसका प्रभाव फैला हुआ है। गजब की मोहिनी शक्ति है इस मोह में। इसके बन्धनों को तोड़ना आसान नहीं, बहुत टेढी खीर है। दृढ़ फौलाद और लोहे की जंजीरों को तोड़ना आसान है परन्तु मोह के कच्चे धागे को तोड़ना बहुत कठिन है। कैसी मोहनी शक्ति है मोह की ! अपने पराक्रम से धरातल को कंपा देने वाले बड़े–बड़े शूरवीर इस धरातल पर आए हैं, दुनिया में उन्होंने तहलका मचाया है परन्तु वे भी मोह की मोहिनी शक्ति के सामने श्वान की तरह दुम हिलाते रहे हैं।

मोह की प्रबल शक्ति का रहस्य उसका विकराल स्वरूप नहीं, अपितु उसकी सम्मोहनी शक्ति है, मोह के विविध मायावी स्वरूप हैं। इन मायावी, लुभावने विविध रूपों से वह जगत के जीवों की, चेतन की, मति को भ्रान्त करता है। मति के भ्रान्त होते ही सब मिथ्या प्रतीति होने लगती है, वस्तु का स्वरूप भ्रान्त दिखाई देने लगता है–चेतन मिथ्यादृष्टि बन जाता है। उसकी निर्णायिका शक्ति लुप्त हो जाती है। वह सम्यक्–असम्यक् का निर्णय नहीं कर पाता, कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक नहीं हो पाता। अतएव उसके सारे प्रयत्न विपरीत दिशा में होते रहते हैं। अपने मूल स्वरूप के प्रति वह असावधान रहता है और पर–पदार्थों को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। यह मिथ्यादृष्टि ही उसे अनन्तकाल तक संसार–चक्र में परिभ्रमण कराती है। यह सब मोह की ही माया है। अतएव उसे सब कर्मों का राजा और संसार का मूल कहा जाता है।

जिस प्रकार राजा के परास्त हो जाने पर सेना बिखर जाती है, उसी तरह मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म भी शिथिल पड़ जाते हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म रूप बचे हुए घाती कर्म अन्तर्मुहूर्त मात्र समय में नष्ट हो जाते हैं और आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है।

यह अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति ही आत्मा का अपने घर में लौट आना है, अपनी स्वाभाविक स्थिति को पा लेना है। यही सब संसारी आत्माओं का लक्ष्य और साध्य है।

१३६. सिक्के के दो पहलू

प्रवृत्ति और निवृत्ति, विधि और निषेध, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं या एक ही रथ के दो चक्र हैं। सिक्के के दोनों ओर कुछ अंकन किया हुआ होता है। दोनों ओर का अंकन सही और ठीक–ठीक स्थिति में होने पर ही सिक्का सही माना जाता है। उसकी दोनों बाजुएं यथावत होने पर ही वह अपना सही मूल्य पाता है। यदि सिक्का एक तरफ से घिसा–पिटा हो तो वह अपना सही मूल्य नहीं पा सकता। एक चक्र के द्वारा रथ की गति संभव नहीं है। रथ के दोनों पहिए जब साथ–साथ घूमते हैं तब रथ की गति होती है और उसके द्वारा मंजिल पर पहुंचा जा सकता है, इसी तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति रूपी दोनों चक्रों से ही धर्म–रथ की गति हो सकती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही धर्मरूपी सिक्के के दो पहलू हैं। एक कि बिना दूसरा अपूर्ण है। ये दोनों एक–दूसरे के पूरक होते हैं, विरोधी नहीं। अशुभ से हटना निवृत्ति है और शुभ में लगना प्रवृत्ति है। विधि प्रवृत्तिपरक है और निषेध निवृत्तिपरक। जब अशुभ से निवृत्ति की जाती है तो शुभ में प्रवृत्ति होने पर अशुभ से निवृत्ति सहज हो जाती है। ये दोनों जीवन में साथ–साथ चलते हैं।

१३७. चेतन की विराट शक्ति

विराट चेतन–तत्त्व अपने–आप में परिपूर्ण है। उसे अन्य पदार्थों की कोई अपेक्षा नहीं रहती। अन्य पदार्थों की अपेक्षा उसी को रहती है जो स्वयं परिपूर्ण न हो। जल की दृष्टि से समुद्र परिपूर्ण है, वह कूप–जल की या नदी के जल की आशा नहीं करता। यह बात दूसरी है कि समग्र जल स्वयमेव समुद्र की ओर चला आता है। समुद्र उसकी आकांक्षा या आशा नहीं रखता। वैसे ही विराट चेतन स्वतः परिपूर्ण है अतएव वह अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। चेतन तत्त्व अपने भौतिक रूप में स्वयं प्रभु और सार्वभौम शक्तिसम्पन्न

है। परमात्मा की शक्ति से उसकी शक्ति किंचित् भी कम नहीं है। जिस तत्त्व में ऐसी विराट शक्ति रही हुई है, उसके लिए तुच्छ भौतिक पदार्थों की लालसा कोई महत्त्व नहीं रखती। क्या सूर्य अपने प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए मिट्टी के ढेलों की अपेक्षा रखता है ? क्या कभी वह पहाड़ों, चट्टानों या पृथ्वीतल की अन्य चीजों की आशा या अपेक्षा रखता है ? हर कोई जानता है कि सूर्य को इनकी अपेक्षा नहीं रहती। इसी तरह भव्य जनों को यह विश्वास होता है कि उनकी आत्मा सूर्य के प्रकाश से भी अधिक प्रकाश का पुंज है। वह सूर्य से अधिक देदीप्यमान है। सूर्य का प्रकाश नियत क्षेत्र और नियत काल की परिधि में सीमित होता है। समग्र लोक को वह प्रकाशित नहीं कर सकता। मध्यलोक के अमुक–अमुक क्षेत्र को ही वह आलोकित करता है लेकिन आत्मा की ज्ञान–रश्मियां न केवल मध्यलोक को, अपितु ऊर्ध्वलोक और अधोलोक को भी आलोकित करती हैं। वे तीनों लोकों के समग्र स्वरूप को प्रकाशित करने वाली हैं। लोक ही नहीं, लोक के समान असंख्य या अनन्त लोक यदि अलोक में भी हों तो उनको भी प्रकाशित करने की शक्ति–जानने की शक्ति आत्मा में है। इतनी विराट शक्ति का स्वामी यह चेतन तत्त्व है। ऐसा विराट चेतन–तत्त्व भौतिक सारहीन पदार्थों की आशा करे, यह कितना हास्यासपद है। उस आत्मशक्ति को जाग्रत् करने के लिए अध्यात्म साधना आवश्यक है।

१३८. विश्वास फलदायक

आपको अपनी अनन्त शक्तियों पर दृढ़ विश्वास हो जाए तो निस्संदेह आप अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है–दृढ़ आस्था, अडोल विश्वास और प्रबल संकल्प। संस्कृत की एक सूक्ति है–विश्वासो फलदायकः।

विश्वास फलदायक होता है। विश्वास के अभाव में व्यक्ति किसी भी सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता। विश्वास को लेकर चलने वाला व्यक्ति ही सफलता के शिखर पर पहुंचता है। अपनी आत्मा की विराट शक्ति के विश्वास का संबल लेकर यदि आप साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे तो निस्संदेह आप अपनी छिपी हुई, दबी हुई शक्ति को प्रकट करने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

१३९. शिलाओं का भार बनाम कर्मों का भार

मैं आपसे एक सीधा–सा प्रश्न करूं कि यदि कोई व्यक्ति किसी

दुर्घटना के कारण पत्थर की शिला के नीचे दब जाए तो वह क्या करेगा ? आप चट से उत्तर देंगे कि वह किसी भी तरीके से निकलने की कोशिश करेगा। यदि उसके हाथ खुले हैं तो उनसे शिला को हटाने का प्रयास करेगा। उस समय यदि कोई उसे कहे कि कोलकाता से सोहनहलवा आया है, अपने हाथों में उसे ग्रहण करो। क्या वह व्यक्ति अपने हाथों को हलवा ग्रहण करने में लगाएगा या अपने पर पड़ी हुई शिला को हटाने के लिए हाथों का उपयोग करेगा? स्पष्ट है कि वह पहले शिला को हटाने का प्रयास करेगा। वह जानता है कि शिला के नीचे अधिक समय तक दबे रहने पर प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। हलवा तो यदि जीवित रहा, कई बार खाने को मिल सकेगा। उस समय न वह सिनेमा (चलचित्र) देखना पसंद करेगा और न वह पांचों इन्द्रियों को मनोज्ञ लगने वाले किसी पदार्थ के प्रति ही ललचाएगा। उस समय उसका एक ही मनोरथ होगा, एक ही दृष्टि होगी, एक ही साध्य होगा कि किसी तरह शिला को हटाना है। वह अपनी समस्त शक्ति शिला को हटाने में ही लगाएगा। यदि कदाचित् ऐसा न करते हुए वह सोहनहलवा खाने या मनोज्ञ रूप आदि देखने में लग जाय तो आप उसे क्या कहेंगे ? मूर्ख।

सचमुच, यह मूर्खता ही होगी। अब जरा आप अपनी स्थिति का सिंहावलोकन करलें कि कहीं ऐसी गलती या मूर्खता हमसे तो नहीं हो रही है। इस आत्मा पर बहुत भारी शिलाएं पड़ी हुई हैं। ये शिलाएं बाहरी नहीं हैं। बाहर की शिलाएं तो दूसरों की सहायता से भी हटाई जा सकती हैं परन्तु आत्मा पर पड़ी हुई आठ कर्मों की भारी शिलाओं को हटाने के लिए तो स्वयं को ही पुरुषार्थ करना पड़ता है। दूसरा व्यक्ति निमित्त मात्र हो सकता है, उपादान नहीं।

मुख्य रूप से अपना पुरुषार्थ ही अपने लिए कारगर हो सकता है। दूसरों की अपेक्षा रखने वाला व्यक्ति निर्बल और निराश होता है। अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखने वाला व्यक्ति ही सफलता का वरण किया करता है। इन आठ कर्मों की शिलाओं को हटाने का काम आसान नहीं है। यह एक अत्यंत कठिन कार्य है परन्तु प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा साध्य है। यह आपका सद्भाग्य है कि आपको पांचों इन्द्रियों की शक्ति मिली हुई है। आपके हाथ–पांव खुले हैं, आपका स्थूल औदारिक शरीर खुला हुआ है, केवल आत्मिक शक्ति शिलाओं से दबी हुई है। ऐसी स्थिति में आप अपनी इन्द्रियों का, शरीर का और शरीर के अंगोपांगों का उपयोग आत्मा की कर्मों से दबी हुई शक्तियों को प्रकट करने में करेंगे या खान–पान, नाच–गान में लगाएंगे, यह बात मैं आपके विवेक पर छोड़ता हूं।

१४०. मिथ्या आरोप जघन्य अपराध है

कई अज्ञानी व्यक्ति अपने दोषों का तो विचार नहीं करते किन्तु दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करते हुए नहीं शरमाते हैं। वे बिना सिर–पैर की बातें उड़ाने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। दूसरे के हृदय में तीर चुभाने में उन्हें बड़ा मजा आता है। वे अज्ञानी यह नहीं सोचते कि इस दुष्कर्म का परिणाम बड़ा भयंकर होता है। जो इस प्रकार दूसरों पर मिथ्या आरोप लगाता है, वह जघन्य अपराध करता है। शास्त्रकारों ने इसे भयंकर पाप माना है। दूसरे के हृदय को छलनी बना देने के कारण यह भीषण हिंसा का कार्य माना गया है। फिर भी कई लोग अपनी आदत से बाज नहीं आते और "बारह हाथ की काकड़ी और तेरह हाथ का बीज" वाली कहावत चरितार्थ करते रहते हैं। ऐसे लोग समाज में विष घोलते हैं। उनसे सावधान रहना चाहिए।

१४१. आश्रव को रोकिए

भाइयो ! आत्मा की स्वच्छता के लिए यह आवश्यक है कि पहले आश्रव के द्वारों को रोका जाय। मान लीजिए, एक स्वच्छ जल का कुंड है लेकिन उसमें गटर की नाली का गंदा पानी मिल रहा है। आप उसकी सफाई करना चाहते हैं तो पहले उस गटर की नाली को रोकना होगा। जब तक वह नाली गन्दा पानी कुंड में डालती रहेगी, तब तक कुंड की सफाई नहीं हो सकती। ऐसे ही जब तक पापों के आश्रव–द्वारों को बन्द नहीं करेंगे; काम, क्रोध, मद, मोह, विषय–कषाय को नहीं छोड़ेंगे तब तक आत्मा को स्वच्छ करने का प्रयास निरर्थक होगा। इसमें पाप की नालियों को रोकिये। वैर–विरोध को भूल जाइये। सब जीवों के साथ मैत्रीभाव रखिये। अतःकरण के विकारों को हटाइये। मन की मलिनता को धो डालिये। हृदय को साफ–सुथरे दर्पण के समान स्वच्छ बना लीजिये। ऐसा करने से आत्मा पर पड़ी हुई पापकर्मों की शिलाएं हट जाएंगी और आप एक अनूठा हल्कापन महसूस करेंगे। आपकी आत्मा उज्ज्वल बनेगी और तब आपको अपूर्व आनन्द की अनुभूति हो सकेगी।

१४२. तीन प्रकार की मक्खियां

आप जानते हैं कि संसार में मक्खियों के कई प्रकार हैं किन्तु मुख्यतया तीन प्रकार की मक्खियां पाई जाती हैं। एक मक्खी का स्वभाव होता है कि वह नासिका के श्लेष्म पर ही बैठती है। उस श्लेष्म में न तो मिठास होता है और न सुगंध ही, तदपि वह मक्खी बार–बार उड़ाने पर ही श्लेष्म पर ही बैठती है। उसमें फंस कर वह तड़फ–तड़फ कर मर जाती है, परन्तु उस श्लेष्म पर बैठना वह नहीं छोड़ती। दूसरी मख्खी स्वभावतः शहद पर बैठती है। वह शहद के मिठास पर ललचाती है और उस पर बैठती है। शहद का मिठास लेते–लेते वह मक्खी उसमें फंस जाती है और अपने प्राणों को गंवा बैठती है। इन दोनों प्रकार की मक्खियों में स्वतंत्र रूप से उड़ने की शक्ति होती है परन्तु आसक्ति के कारण ये उनमें लिप्त होकर अपनी जिन्दगी बरबाद कर देती हैं।

एक तीसरे प्रकार की मक्खी होती है जो मिश्री की डली पर बैठती है। वह उस डली पर बैठकर मिठास का आस्वादन करती है लेकिन जरा–सी ठेस लगते ही मिश्री का मोह छोड़कर आकाश में उड़ जाती है।

इन तीनों प्रकार की मक्खियों में से कौन–सी मक्खी आपकी दृष्टि से उत्तम है ? जो मिठास लेकर उड़ जाए वह उत्तम है या मैल या शहद में फंसकर मर जाए वह अच्छी है ? आप सहज ही कह देंगे कि मिठास लेकर उड़ जाने वाली मक्खी अच्छी है।

बन्धुओ ! मक्खियों के इस रूप को मानवों पर घटित कर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। अधिकांशतः मानव मैल की मक्खी की तरह संसार के विषय–कषायों में फंसकर अपने जीवन को बरबाद कर रहे हैं। वे भिखमंगों की तरह इधर–उधर भटकते रहेंगे किन्तु त्यागमार्ग की ओर लगने की भावना उनमें जाग्रत् नहीं होती। वे संसार के दुःखों में फंसकर अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं।

संसार के नाटक बड़े विचित्र हैं। हमें तरह–तरह के सांसारिक दुःखों के किस्से सुनने को मिलते हैं। सांसारिक जन अपना दुखड़ा हमें सुनाते हैं। उनकी दयनीय दशा पर हमें तरस आता है। फिर भी वे लोग संसार के मायाजाल में फंसे रहते हैं। उनमें इतना सामर्थ्य नहीं जगता कि वे मायाजाल को छोड़कर निवृत्ति के मार्ग पर आ जावें। कोई विरले ही व्यक्ति त्यागमार्ग के पथिक बनते हैं।

कई चक्रवर्ती सम्राट और धन–वैभव से सम्पन्न व्यक्ति शहद की मक्खी की तरह सांसारिक पदार्थों का आनन्द लेते हुए उनमें फंसकर, आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। वे अन्त समय में हाय–हाय करते रहे लेकिन विषयों के कीचड़ से ऊपर न आ सके।

मिश्री की मक्खी की तरह थे घन्ना और शालिभद्र। इनकी ऋद्धि–समृद्धि

का कोई पार नहीं था तदपि समय आते ही ये आत्मसाधना के लिए निकल पड़े। वर्तमान में भी अनेक संत–सतीजी ऐसे हैं जो सांसारिक मायाजाल को छोड़कर संयम–मार्ग की निर्मल आराधना कर रहे हैं। आप मिश्री की डली पर बैठने वाली मक्खी से प्रेरणा लें और संसार के मायाजाल में आसक्त न होते हुए, आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर बनें।

१४३. ससीम और असीम

मनुष्य का मस्तिष्क सीमित है, सोचने की क्षमता अधूरी है और वह भी अनुभूतिपूर्वक प्राप्त की हुई नहीं है। अपूर्ण और सीमित शक्ति वाला मानव परिपूर्ण, असीम और अनुभवगम्य परमात्मा का चिन्तन भली–भांति नहीं कर पाता। मानव ससीम है, परमात्मा असीम है। मानव अपूर्ण है, परमात्मा पूर्ण है। मानव बिन्दु है, परमात्मा सिन्धु है। मानव, देश–काल की मर्यादाओं में आबद्ध है, परमात्मा स्वतंत्र है। मानव क्षुद्र है, परमात्मा विराट् है। मानव स्थूल दृष्टिवाला है, परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभवगम्य है। ऐसी स्थिति में परमात्मा का यथावत् निरूपण करना मानव की शक्ति से परे है। इसीलिये आचारांग सूत्र में कहा गया है:–

सव्वे सरा नियट्टन्ति.....
तक्का तत्थ न विज्जइ.....

शब्दों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे परमात्मा के सम्पूर्ण स्वरूप को व्यक्त कर सकें। वहां शब्दों की गति नहीं है। सब स्वर शांत हो जाते हैं। तर्क की वहां पहुंच नहीं है। छद्मस्थ की बुद्धि उसे यथार्थ रूप में ग्रहण नहीं कर सकती। विकल्पों का वह विषय नहीं। इसी बात को वैदिक ग्रन्थों में भी इसी तरह प्रतिपादित किया गया है:–

नेति नेति सब वेद पुकारें

परमात्मा का स्वरूप ''ऐसा नहीं है'', ''ऐसा नहीं है'', इस रूप में ही व्यक्त किया जा सकता है। ''वह कैसा है ?'' वह विषय शब्दों और विकल्पों की परिधि से बाहर है। वह केवल अनुभवगम्य है। गूंगा व्यक्ति गुड़ के स्वाद का अनुभव कर सकता है, परन्तु उस स्वाद के स्वरूप का कथन नहीं कर सकता है। यही बात परमात्मा के यथावत स्वरूप के निरूपण के बारे में समझनी चाहिए।

१४४. नीतिमत्ता

आध्यात्मिक विकास के भवन का निर्माण नीति की नींव पर हुआ करता है। यदि जीवन में नैतिकता नहीं है तो वहां आध्यात्मिकता आ ही नहीं सकती। नीतिरहित आध्यात्मिकता ढोंग मात्र है। नैतिकता आध्यात्मिक जीवन की बुनियाद है। सम्यग्दृष्टि आत्मा यह मानती है और चाहती है कि उसका स्वयं का जीवन नीतिमय हो और समाज में सर्वत्र नीतिमय वातावरण हो। वह स्व–जीवन और जन–जीवन में नैतिकता का भव्य रूप देखना चाहता है। जनता में यदि नैतिकता है, यदि वह एक–दूसरे से सहयोग कर ईमानदारी से चल रही है, तो सारा वातावरण शांतिमय होगा और ऐसे शांत वातावरण में समुचित रूप से आध्यात्मिक साधना संभव हो सकती है। अतएव सम्यग्दृष्टि साधक नीतिमत्ता को आत्मविकास का अंग मान कर चलें।

१४५. रंगों की डिबिया में चित्र

रंगों की डिबिया में विविध रंग होते हैं और उनके माध्यम से चित्रकार विविध चित्रों का निर्माण करता है। इस अपेक्षा से कहा जाता है कि रंगों की डिबिया में क्या–क्या नहीं है ? उसमें हाथी है, घोड़ा है, रथ है, पैदल है, दुनिया–भर के चित्र उसमें सुरक्षित रूप से रहे हुए हैं, लेकिन चित्रकार जब तक तूलिका द्वारा चित्र बना कर नहीं बताता तब तक रंगों का महत्त्व समझ में नहीं आता। वैसे ही शास्त्रीय शब्दों में बहुत गूढ़ रहस्य रहे हुए हैं। उनको समझने और समझाने के लिये कुशल चित्रकार की तरह अन्तरंग दृष्टि और अंतरंग कला की आवश्यकता है।

१४६. क्या समाज के लिए साधु भारभूत हैं?

आजकल बहुत–से लोग यह कहते रहते हैं कि साधु–संत जगत् को क्या देते हैं ? वे समाज के लिये भारभूत हैं। डाक्टर मनुष्यों के शरीर के रोग मिटाने की सेवा करता है, अतः आवश्यक है। वकील कानूनी उलझनों को मिटाते हैं, अतएव वे भी समाज के लिए उपयोगी हैं। अध्यापक छात्रों के

मस्तिष्क का परिमार्जन करते हैं, अतएव वे भी समाज के अनिवार्य अंग हैं। कृषक मानवों के लिए अन्न आदि उत्पन्न करते हैं, अतः उनकी आवश्यकता है। परन्तु साधु–संत समाज की क्या सेवा करते हैं ? न तो वे राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान करते हैं, न शारीरिक चिकित्सा करते हैं, न अध्यापक की तरह छात्रों को परीक्षा में उत्तीर्ण कराते हैं, न वकील की तरह कार्य करते हैं, न कृषक की तरह उत्पादन ही करते हैं तो साधु वर्ग की समाज को क्या आवश्यकता है ?

यह कथन वही व्यक्ति करता है, जिसके अंतरंग नेत्र बन्द हैं। जिसके दृष्टिकोण में स्थूल विषय ही आते हैं, जो कूपमण्डूक की तरह संकुचित होकर उसे ही सर्वस्व समझता है। यह दृष्टि का वैषम्य है, मिथ्यापन है। मिथ्यादृष्टि केवल भौतिकता को ही देखता है, उसे ही परिपूर्ण समझता है। साधु–संत समाज को वह दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं जिसके प्रकाश में वह कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कर सकता है। जगत् के आंगन में शांति और सुख का संचार कर सकता है। सम्यग्दृष्टि के अभाव में संसार में घोर संघर्ष हो सकता है, जगत् का वातावरण अशांत, क्षुब्ध और विषाक्त हो सकता है। इस अर्थ में साधु–संत समाज की जो सेवा करते हैं वह सर्वोत्कृष्ट सेवा है। इस तथ्य को कोई भी विवेकवान व्यक्ति चुनौती नहीं दे सकता।

१४७. अभाव के कारण साधुजीवन नहीं

मुनि–जीवन कौन अंगीकार करता है ? कई भाई कहा करते हैं कि जिन्हें कमाना नहीं आता, वे साधु बन जाते हैं ! यह कितनी तुच्छताभरी बात है। अरे ! निठल्ले तो बहुतेरे बैठे हैं, वे सब के सब साधु क्यों नहीं बन जाते ? लोग निकम्मे हो जाते हैं, वृद्धावस्था में पहुंच जाते हैं तो भी नासिका के मैल की मक्खी की तरह असंयमी जीवन से चिपके रहते हैं। जो पुण्यवान आत्माएं होती हैं वे ही त्याग के मार्ग पर अग्रसर होती हैं। साधारण लोगों की स्थिति तो ऐसी है कि चौबीस घण्टों के लिए भी वे मर्यादा में नहीं रह पाते। पौषध करना या दयाव्रत की अराधना करना भी उन्हें कठिन लगता है। अरे ! धन्ना, शालिभद्र जैसे ऋद्धिशाली व्यक्ति समय आने पर सब–कुछ त्याग, संयम–मार्ग पर चल पड़े। इस प्रकार उन्होंने अपना कल्याण कर लिया। अतः गरीबी आदि के कारण कोई दीक्षा लेता है, ऐसा कहना अपनी नासमझी का द्योतक है।

१४८. द्रव्य-पर्याय

जब हम द्रव्य नय को लेकर वस्तु की विचारणा करते हैं तब वस्तु एक, नित्य और अखंड प्रतीत होती है और जब पर्याय नय की दृष्टि को लेकर चलते हैं तो वस्तु अनेक, अनित्य और भिन्न–भिन्न प्रतीत होती है। इस द्रव्यार्थिक नय को लेकर सिद्ध–परमात्मा का स्वरूप एक, नित्य, अखण्ड दृटिगोचर होता है। उनमें नाम, जाति आदि विकल्प–भेद नहीं रहते। जब पर्याय नय की दृष्टि से विचार करते हैं तो सिद्ध परमात्मा के नाम, गुण आदि को लेकर भिन्नता प्रतीत होती है। द्रव्य नित्य होता है, पर्याय परिवर्तनशील है।

१४९. मोह की प्रगाढ़ निद्रा

आत्मा अपने मूल रूप में स्फटिक मणि के समान निर्मल है परन्तु बाह्य उपाधियों को लेकर वह विकारी भावों से मलिन हो रही है। उस पर अनादि काल से कर्मों की परतें चढ़ी हुई हैं। इनके कारण वह आत्मा संसार की विविध विडम्बनाओं का अनुभव करती हुई विभिन्न दशाओं को प्राप्त होती रहती है। विकारी भावों के कारण आत्मा की पवित्रता कलंकित हुई, उसका चैतन्य अवरुद्ध हुआ, मोह–माया के बन्धनों में वह कैद हुई और मोह की प्रगाढ़ निद्रा ने उस पर अपना आधिपत्य जताया।

विकारी भावों से परिणत आत्मा की ज्ञान–ज्योति को मोह की काली घटाओं ने आवृत कर लिया, मोह की प्रगाढ़ निद्रा ने उसके सहज विवेक को विलुप्त कर दिया और मोह की मदिरा ने उसे उस स्थिति में ला पटका, जहां वह अपना घर छोड़कर दूसरे के घर को अपना मानने लगी, वह स्व–तत्त्व को छोड़कर पर–तत्त्व में रमण करने लगी। वह अपने चैतन्य स्वरूप को छोड़कर जड़ पुद्गलों की परिणति को अपना मानने लगी। यह शरीर मेरा है, यह भौतिक साधन–सामग्री मेरी है, मकान मेरा है, आभूषण और वस्त्र मेरे हैं। मोह की इस मादक मदिरा ने आत्मा के केवल बेभान ही नहीं बनाया वरन् उसे इतना सम्मोहित कर लिया कि उसे जड़ पुद्गल ही अच्छे लगने लगे, वह उनमें ही रमण करने लगी, पुद्गल ही पुद्गल उसकी दृष्टि में चढ़ने लगे, वह अपने स्वरूप को तो सर्वथा भूल ही गई। कितनी मादक है, यह मोह की मदिरा। बड़ी दुर्दशा की है इसने आत्मा की। अपना घर छोड़कर जो दूसरे के घर में जाता है, उसकी कैसी दुर्दशा होती है, यह आप सब समझते ही हैं।

आत्मा की इस दुर्दशा से मुक्ति तभी हो सकती है जब मोह की मदिरा का मादक प्रभाव दूर हो। जब आत्मा पर–भाव को छोड़कर स्व–भाव को

समझने लगेगी, जब उसका पुद्गल के प्रति सम्मोहन हटेगा, जब उसकी दृष्टि सही को समझने लगेगी, जब उसे अपने मूल स्वरूप का ध्यान आएगा, जब वह पुनः अपने घर लौटेगी, तब वह दुर्दशा से छूट सकेगी। यदि आत्मा को इस दुर्दशा से छुटकारा पाना है तो उसे अपने घर आना पड़ेगा, पुद्गलों के सम्मोहन को भगाना पड़ेगा, मोह की प्रगाढ़ निद्रा को छोड़ना होगा और अपने मौलिक स्वरूप को पहचानना होगा, पौद्गलिक सम्मोहन के विरुद्ध सतत जागृति रखनी होगी। पूर्वाचार्यों ने इस जागृति का संदेश देते हुए कहा है:–

जागरह! णरा णिच्चं
जागरमाणास्स वड्ढते बुद्धि

–वृहत् कल्पभाष

मनुष्यो ! जागो ! निद्रा को छोड़ो। जो जागता है, उसकी बुद्धि भी जागती है। उसके विकास की अनन्त सम्भावनाएं सामने खड़ी रहती हैं।

१५०. यथार्थ सत्य के ज्ञापक दो दृष्टिकोण : सामान्य और विशेष

प्रभु के स्वरूप को समझने के लिए एक दृष्टिकोण दो धाराओं में बह रहा है। एक सामान्य ज्ञानधारा (निराकार) और एक विशेष ज्ञानधारा (साकार)। निराकार की दृष्टि अनेक दृष्टियों से प्रतिबद्ध हो रही है। अभेद ग्राहक एक नय है, जिसको संग्रहनय कहते हैं। संग्रहनय की दृष्टि सामान्य को ग्रहण करती है, वह विशेष भेद नहीं करती है। संग्रहनय कहता है कि 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। आत्मा एक ही है, ऐसा वह नहीं कहता है। आत्मा एक है, इसमें संग्रहनय की दृष्टि है। अभेदनय से आत्मा के समग्र मौलिक तत्त्वों (गुणों) की दृष्टि से आप ऐसा कह सकते हैं, परन्तु समग्र दृष्टि से एक ही है, यह गलत है। आत्मा अनेक भी है, यह सत्य है। वैसे ही–'एगे सिद्धा' परमात्मा एक है। यह अभेददृष्टि है। अनन्त परमात्मा का एक–सा स्वरूप आप संग्रहनय की दृष्टि से ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए कि यह दृष्टि अभेद ग्राहक है। वह निराकार है, उसके स्वरूप का विश्लेषण नहीं कर सकते हैं, किन्तु सामान्य रूप से जान सकते हैं, इसमें भेद नहीं हो सकता है। इसलिए वह निराकार दृष्टि है। जैसे मनुष्य जाति एक है। मनुष्य जाति–इस शब्द में कौन मनुष्य बाकी रहेगा ? हिन्दुस्तान के सभी मनुष्य आये या नहीं ? क्या कोई बाकी रह गया ? हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, रूस, जर्मन, जापान, अमेरिका आदि कहीं का भी मनुष्य बाकी नहीं रहा। मनुष्य कहने से सबका ग्रहण हो गया। यह कथन सामान्य

दृष्टि से, अभेदग्राह्य दृष्टि से है। परन्तु जब मनुष्यों का भेद करेंगे तब व्यवहारनय की दृष्टि से भेद होगा। मनुष्य अनेक हैं तो उनकी आकृतियां भी अलग–अलग हैं। इसलिए मनुष्यों की गिनती होती है––एक, दो, तीन, चार आदि। मनुष्य एक है और अनेक है। एक में सबका ग्रहण और अनेक में सबका विभक्तिकरण है। संग्रहनय की दृष्टि से मनुष्य एक है, ऐसा कहना गलत नहीं है। इसी तरह संग्रहनय की दृष्टि से परमात्मा एक है, व्यवहारनय की दृष्टि से अनेक है। अतः उसको निराकार और साकार कहेंगे तेा कोई द्वंद्व भेद नहीं होगा, और हम परमात्मा के स्वरूप को सही तरीके से समझ लेंगे तभी आत्मा के स्वरूप को सही तरीके से समझ पायेंगे।

१५१. स्वयं का पुरुषार्थ

एक व्यक्ति कमरा बंद कर रजाई ओढ़े सो रहा है। वह आंखों पर पट्टी बांध लेता है और फिर चिल्लाता है कि इस कपड़े ने मेरी आंखें बांध दी हैं, रजाई ने मुझे पकड़ लिया है, कोई आकर मुझे बचाओ। अंदर से सांकल लगी हुई है। दूसरा व्यक्ति अन्दर नहीं जा सकता। बाहर से कोई व्यक्ति सुझाव देता है कि अरे भाई ! तुमने अन्दर से सांकल लगा रखी है, रजाई तुमने ओढ़ रखी है, आंखों पर पट्टी तुमने बांध रखी है। अपने हाथों से ही पट्टी ढीली करलो, रजाई फेंक दो, अन्दर की सांकल खोल दो, बाहर की हवा लो, स्वयमेव तुम मुक्त हो जाओगे। वह कहता है कि मैं तो यह सब नहीं कर सकता, आप ही मेरी मदद कीजिये। ऐसे व्यक्ति के विषय में आप क्या सोचेंगे ? यही न कि वह मूर्ख है। ठीक इसी तरह अपने–अपने कर्मों के आवरण को हम स्वयमेव हटाने में समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं। दूसरा व्यक्ति केवल निमित्त बन सकता है। मूल काम तो हमें स्वयं ही करना है। जिसने कर्म बांधे हैं, वही इन्हें तोड़ने की भी क्षमता रखता है। आप अनन्त शक्तिशाली हैं, आप में अनन्त पौरुष है। आवश्यकता केवल उसे प्रकट करने की है। अतएव अपना उद्धार अपने ही हाथों में है।

उद्धरेदात्मनात्मानम्

–गीता

अपने उद्धार का दायित्व हमारा ही है, अन्य किसी का नहीं।

१५२. जटायु की भक्ति

रामायण में जटायु का प्रसंग आता है। रावण ने इस पक्षी के पंख

उखाड़ दिये थे। सीता की खोज में जब पुरुषोत्तम राम उसके पास पहुंचे तो उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और कहा–"तूने अनीति का प्रतिकार किया, रावण के साथ संघर्ष में उसने तेरे पंख उखाड़ दिये। तूने अपनी शक्ति के अनुसार बहुत बड़ा कार्य किया है। मैं तुझ से प्रसन्न हूं। तूं चाहे तो मैं तेरे सोने के पंख लगा दूं और चाहे तो पहले जैसे ही पंख लगा दूं।"

जटायु ने गद्‌गद् हेाकर कहा–"प्रभो ! मुझे न सोने के पंख चाहिए और न पूर्ववत् पंख ही। मुझे तो केवल आपकी गोद चाहिए और मैं उसी में अपने जीवन का अन्तिम क्षण बिताना चाहता हूं।"

बन्धुओ ! जटायु जैसी भक्ति भावना आज के मनुष्यों में अथवा भक्त कहे जाने वालों में है क्या ? यदि जटायु के स्थान पर आज का मनुष्य हो और कोई उसे कहे कि भाई ! मानलो यदि किसी ने तुम्हारे हाथ–पांव तोड़ दिये तो क्या मैं सोने के हाथ–पांव लगा दूं ? कितने भाई तैयार हो जावेंगे ? लोग सोने के पीछे पागल हो रहे हैं परन्तु यह नहीं जानते कि पीछे भागने से सोना नहीं मिलता। छाया के पीछे ज्यों–ज्यों दौड़ा जाता है, त्यों–त्यों छाया आगे भागती चली आती है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह भौतिकता को पीठ देकर आध्यात्मिकता की ओर बढ़े, जिससे भौतिकता स्वतः ही छाया की तरह पीछे दौड़ती चली आएगी।

❑ नानेश वाणी – 45
अंतर के प्रतिबिम्ब

❑ आचार्य श्री नानेश

❑ संस्करण : जनवरी, 2003 1100 प्रतियां

❑ मूल्य : 30/–

❑ अर्थ सहयोगी : श्री राजेष कुमार बोहरा, बैंगलोर

❑ प्रकाशक :
श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)
फोन : 2544867; फैक्स : 0151.2203150

❑ मुद्रक :
कल्याणी प्रिण्टर्स
अलख सागर रोड, बीकानेर
दूरभाष : 0151–2526890

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरूष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएं अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तंभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियां युगों–युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यकता है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जायें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को **''नानेश वाणी''** पुस्तक श्रृंखला के अर्न्तगत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस संदर्भ में बैंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ संबंधी व्यवस्था में जो सद्प्रयत्न किया वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत कृति पूर्व में **अंतर के प्रतिबिम्ब** नाम से प्रकाशित पुस्तक की नयी आवृत्ति है। इसमें कुछ संशोधन परिसंस्करण भी हुआ है। इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री राजेश कुमार जी सुपुत्र स्व. श्री मोहनराज जी बोहरा, बैंगलोर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूं।

यद्यपि सम्पादन–प्रकाशन में पूरी सावधानी रखी गई है तथापि कोई भूल रह गई हो तो सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें ताकि आगामी संस्करणों में भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

शांतिलाल सांड

संयोजक साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा. सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर।

अर्थ सहयोगी परिचय

विगत शताब्दी के शीर्ष अध्यात्म-सन्त आचार्य श्री नानेश की प्रस्तुत कृति 'प्रवचन-पीयूष (२६)' का प्रकाशन सरल स्वभावी, धर्मप्रेमी, समाजसेवी, अनन्य गुरुभक्त श्रीमान मोहनराजजी बोहरा आत्मज श्री प्रेमराजजी की पुण्य स्मृति में इनके सुपुत्र श्री राजेशकुमारजी बोहरा के अर्थ सौजन्य से हुआ है।

४ अक्टूबर, १९१६ को पिपलिया कलां (राजस्थान) में जन्मे श्री मोहनराजजी का बचपन विल्लिपुरम् (तमिलनाडु) में बीता और वहीं पढ़ाई-लिखाई भी हुई। अपने अग्रज भ्राता श्री गणपतराजजी व अनुज भ्राता श्री सम्पतराजजी व परिजनों के स्नेहवर्षण से आपने व्यावसायिक कुशलता अर्जित की एवं अथक लगन, श्रमनिष्ठा से निरन्तर प्रगति पथ पर बढ़ते रहे। २० वर्ष की आयु में धर्मशीला मिरियाबाई से आपका पाणिग्रहण हुआ, जो इन्हें सभी कार्यों में प्रत्यक्ष व परोक्ष सहायता करती थी।

अनेक स्थानों के भ्रमण एवं विभिन्न व्यापार करने के पश्चात् आपने गुजरात में अपना व्यापार प्रारम्भ किया तथा १९६५ में बैंगलोर में ''मोहन एल्युमिनियम प्रा. लि.'' नाम से लघु उत्पादन इकाई की स्थापना की। अनवरत सफलता अर्जित करते हुए आपने कम्पनियों के समूह ''प्रेम समूह'' के रूप में औद्योगिक जगत में पृथक् प्रतिष्ठा प्राप्त की। साथ ही समाज सेवा में भी पूर्ण योगदान देते रहे।

आप आचार्य श्री नानेश के अनन्य भक्त थे एवं उनके नियमों को अंगीकृत कर तन, मन, धन से साधु-साध्वियों की अन्तिम क्षण तक सेवाएं की। बैंगलोर में भगवान महावीर जैन अस्पताल, भगवान महावीर जैन कॉलेज की स्थापना में अहम् भूमिका का निर्वहन, १९७० में भीषण सूखे के समय बीजापुर (कर्नाटक) में सूखा पीड़ितों को निःशुल्क भोजन उपलब्ध कराना, उनके पुनरुत्थान में हर प्रकार से सहयोग, हजारों लोगों के मोतियाबिन्द के निःशुल्क ऑप्रेशन कराना, गरीबों की प्रत्यक्ष-परोक्ष सहायता तथा १९९० में पिपलिया कलां में आचार्य श्री नानेश का ऐतिहासिक चातुर्मास जैसी उपलब्धियों के कारण श्रीमान बोहरा सा. चिर स्मरणीय रहेंगे। ७ नवम्बर, १९९२ को आपका स्वर्गवास हो गया, जो सामाजिक, धार्मिक, व्यावसायिक क्षेत्रों की अपूरणीय क्षति है।

आपके सुपुत्र श्री राजेशकुमारजी भी अपनी अर्द्धांगिनी मीनाजी के साथ अपने पितृश्री के पदचिन्हों पर चलकर उनके कार्यों को आगे बढ़ा रहे हैं। आप आगम मर्मज्ञ, प्रशान्तमना, श्रीवाल प्रतिबोधक परम श्रद्धेय आचार्य श्री रामलालजी म. सा. के प्रति अटूट श्रद्धानिष्ठ हैं व शासन सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं। आपने व्यावसायिक क्षेत्र में नवीन ऊँचाइयों को हस्तगत किया है तो संघ व समाज को भी सक्रिय सहयोग प्रदान करते रहते हैं।

पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत कृति पाठकों को आत्म-साक्षात्कार करने व चेतना के ऊर्ध्वारोहण में सहायक सिद्ध होगी और बोहरा परिवार का सत् साहित्य प्रकाशन व संघ उन्नयन में निरन्तर उदार योगदान मिलता रहेगा।

उदय नागोरी

अनुक्रम

1. बन्दर की पकड़ 1
2. जैन और जैनत्व 1
3. संयोग-उपयोग 2
4. पानी सभी का है 2
5. आधुनिक शिक्षा 3
6. मनुष्य हो या पशु 4
7. भाग्य और पुरुषार्थ 4
8. घड़ी का समभाव 5
9. वीतराग वाणी 5
10. उत्तम व्यक्ति 6
11. क्या कहा - वह करो 6
12. पतितोद्धार 7
13. चौराहा 7
14. धर्म : आत्मा का मौलिक स्वरूप 8
15. भंग से विनाश 8
16. ज्वर एक : पथ्य अलग-अलग 9
17. कपूर की टिकिया 9
18. ध्यान का फल 9
19. अन्तःदर्शन 10
20. बाहर नहीं, भीतर देखो 10
21. आत्मा का धर्मस्थान 11
22. समता-दर्पण 11
23. विभिन्नता में एकता 12
24. एकता में विभिन्नता क्यों? 13
25. दयनीय दशा हिन्दुस्तान की 14
26. कपड़ों की मलिनता और आत्मा 14
27. प्रभु-सेवा का अधिकारी कौन? 15
28. ज्ञानी-अज्ञानी कौन? 15
29. श्रद्धाभ्रष्ट क्रिया 16
30. प्रश्नकर्ता, प्रश्नकर्ता को पहचाने 16
31 कर्मों का आत्मा से संबंध 17
31 मूल कारण की खोज 18
33. संकल्प, शक्ति, दृढता 19
34. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य 19
35. कर्मों की कर्जा 20
36. अभयदान 20
37. करूणा 21
38. छद्मस्थों के लिए आदर्श : वीतराग 21
39. उत्पत्ति-विनाश के बीच ध्रौव्यता 22
40. पौद्गलिक परिवर्तन 23
41 पुद्गलानन्द शाश्वत नहीं 23
42 आत्माभिमुख बनो 24
43. क्रिया की प्रवृति शुभ में या अशुभ में? 24
44. कर्ता के तीन रूप 25
45. प्रेय मार्ग और दहेज 26
46. श्रोत-इन्द्रियरामी का परिणाम 27
47 रूपाशक्ति का परिणाम 28
48. सुगंध-दुर्गंध में आसक्ति भाव 29
49 कटु परिणाम रसना का 30
50. दुर्गतिकारिका स्पर्शना 32
51. सुख पुद्गलों में नहीं स्वयं में 33
52. साधना क्या उधार का धंधा है? 33
53 वैज्ञानिक मार्ग 34
54 कोमल मस्तिष्क पर शिक्षा का भार 35
55 उपदेष्टा समदृष्टा होता 35
56 मानव सोचें 36
57 चातुर्मास कल्प 36
58. तप से शुद्धि 37
59. समीक्षण में अवलोकन प्रभु का 38
60. समीक्षण का प्रभाव 39
61. समीक्षण साधना साधु जीवन में 39
62. समीक्षण साधना प्रभु के जीवन में 40
63. समीक्षण करो अंतरंग का 41
64. वैभाविक परिणितियां 42
65 अंतरंग का विज्ञान, बाह्य जीवन से 42
66. अमूल्य मानव तन 43
67. गरीब कौन? 44
68. चकडोलर और संसार 45
69. गुणगान के साथ आचरण भी 45
70. तीर्थंकर भी मानव हैं 46
71. उदासीनता- निष्क्रियता नहीं है 46
72. सिद्धात्मा भी निष्क्रिय नहीं है 47
73. श्रावक तीर्थंकर नहीं बनते 48
74. आप भी अनन्त सत्व सम्पन्न हैं 48
75 कर्म पहले या आत्मा 49
76. धन लोलुपी 50
77. आत्मा का हल्कापन 51
78. जीव और पुद्गल 51
79. लक्ष्य सम्यक्दृष्टि आत्मा का 52
80. खिलौने आत्मा के 53
81. शैवालाच्छादित मेंढकः कर्माच्छादित आत्मा 54
82 शान्ति की दुर्लभता 55
83. अन्तः समीक्षण 55
84. पाश्चात्य संस्कृति- भारतीय संस्कृति 56
85. पेटी के लोभ से अमानवीयता 57
86. मानवीय शक्ति 57
87. कंकर और गेहूँ 58
88 कोई छाया का अनुसरण न करे 58
89 मन-चंचलता में हेतु 59
90 सती राजमती और रथनेमि 60
91. साधुओं के प्रति श्रावकों का कर्त्तव्य 61
92. मानव तन का महत्त्व 62
93. लोहा और धन 62
94. मुक्त आनन्द 62
95. दिव्य-नेत्र 63
96. जिन नहीं दिखते गौतम को 64
97. दृढ़ संकल्प 64
98. कीचड़ न लगे 65
99. अक्रान्ता के प्रति श्रावक का कर्तव्य 66
100. लक्ष्मी का वास 67
101. सर्पिणी और काल 68
102. मछली और आज का प्राणी 68
103 मन की प्रवृत्ति 69
104. भंवरे की कल्पना 69
105. फल की कामना 70
106. आध्यात्मिक रस 70

107 जन्मांध 71
108. दो बीज : समता-विषमता का 72
109. सूर्य-रश्मि 72
110. आत्मा रहित शरीर 73
111. दुनिया के कांटे 73
112 चोर को पहचानो 74
113. भ्रान्त धारणाः माल भी खाना, मुक्ति भी जाना 74
114. दुर्लभ मानव जीवन का सदुपयोग हो 75
115. सहिष्णुता 76
116. प्रार्थना का स्वभाव 77
117. मोह को जीतो 77
118. आभ्यंतर विकृति की भयंकर परिणति 77
119. वासना के मूल को काटो 78
120. मदिरा-निमार्ण की घृणित प्रक्रिया 79
121. कर्मों का राजाः मोह 80
122. सदाचार 80
123. पारिवारिक कर्तव्य 81
124. आध्यात्मिकता की ओर झुकाव- भौतिकी वैज्ञानिकों का 81
125. युवकों की धर्म के प्रति अरुचि का मूल 83
126. उल्टी गंगा बह रही है 84
127. यौवन का विस्फोटक रूप 85
128. गांधीजी का आत्मबल 86
129. ''धम्मो सुध्दस्स चिट्ठइ'' 87
130. जीवन में मोड़ कैसे और कब हो 87
131. साधु-जीवन की गरिमा 88
132. अखूट खजाना 88
133. घातक परिणाम मदिरा से 89
134. स्त्री-पुरुषों का भेद अपेक्षित नहीं 89
135. अष्ट कर्मों का राजा : मोह 90
136. सिक्के के दो पहलू 91
137. चेतन की विराट शक्ति 92
138. विश्वासी फलदायक 93
139. शिलाओं का भार : बनाम कर्मों का भार 93
140. मिथ्या आरोप जघन्य अपराध है 94
141. आश्रव को रोकिये 94
142. तीन प्रकार की मक्खियां 95
143. ससीम और असीम 96
144. नीतिमत्ता 97
145. रंगों की डिबिया में चित्र 97
146. क्या समाज के लिए साधु सारभूत हैं? 98
147. अभाव के कारण- साधु जीवन नहीं 99
148. द्रव्य-पर्याय 99
149. मोह की प्रगाढ़ निद्रा 99
150. यथार्थ सत्य के ज्ञापक दो दृष्टिकोण- सामान्य और विशेष 100
151. स्वयं का पुरुषार्थ 101
152. जटायु की भक्ति 102

नानेश वाणी क्रमांक - 45

अंतर के प्रतिबिम्ब

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, बीकानेर (राज.)

१२. पतितोद्धार

धर्मपाल समाज–रचना का मर्यादित काम करते हुए मैंने कभी भी यह नहीं सोचा था कि इससे मेरा कोई नाम हो। मेरा तो मुख्य लक्ष्य यही था और है कि जब प्रभु महावीर के सान्निध्य में हरिकेशी जैसे हरिजन का भी उद्धार हो सकता है तो इन पतित कहलाने वाले भाइयों का उद्धार भी क्यों नहीं हो सकता है? मानवता के नाते मैं उनके पास पहुंचा और उन्हें प्रभु महावीर की देशना का पान कराया।

लोगों में चामत्कारिक परिवर्तन हुआ। हजारों की जनसंख्या में लोग व्यसनमुक्त हो, मानवता के गुणों से भूषित होने लगे।

अगर आप सभी प्रभु महावीर के सही मायने में अनुयायी हैं तो आप भी जन्मना जाति–वर्ग से हटकर कर्मणा सिद्धांत को अपनाने का प्रयास करें। भाई–भाई से प्रेम करना सीखें और मानवता का भव्य प्रसंग उपस्थित करें।

१३. चौराहा

नगर के चौराहे पर खड़ा व्यक्ति जिधर जाना चाहे, उसी रास्ते से जा सकता है। उसके लिए किसी प्रकार का अवरोध नहीं आता। ठीक इसी प्रकार आत्मा के लिए भी मानव जीवन एक चौराहा है। जिस चौराहे से वह चार गति–नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव किसी में भी जा सकता है। यही नहीं, सर्व बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर वह मोक्ष में भी जा सकता है।

आप सभी ऐसे ही चौराहे पर खड़े हैं। जिधर जाना चाहें, उधर जा सकते हैं। अभी अवसर आपके हाथ में है। आप अपने अशुद्ध आचरण से निम्न गति में भी जा सकते हैं। आजमाइये अपने पुरुषार्थ को और शुद्धाचरण के पथ पर आगे बढ़िए।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं,
पुनरपि जननी जठरे शयनं।

अर्थात् बार–बार जन्म लेना, बार–बार मरना और बार–बार माता के गर्भ में आना, आखिर क्यों हो रहा है? जिस कार्य को करना हम नहीं चाहते उसी कार्य को विवश हो पुनः–पुनः क्यों करना पड़ रहा है? आखिर क्या कारण है इसका? जरा विचार करिये अपने अन्तर्मन में, हम चाहते हैं कुछ और ही और हमारा आचरण होता है किसी और ही प्रकार का। जन्म–मरण, जननी, जठर

इस दृश्य जगत् में अनेक प्राणी अपनी विविध क्रियाओं द्वारा कार्य कर रहे हैं, परन्तु उन्हें प्रभु के दर्शन नहीं हो रहे हैं। इस आत्मा ने अनादि काल से संसार के पदार्थों का अनुभव किया है और करती ही चली जा रही है। परन्तु इन नाशवान पदार्थों के बीच उन अविनाशी तत्त्वों का अंश भी दृष्टिगत नहीं हो रहा है। परमात्मा का स्वरूप कहां है ? कितनी दूर है ? उसको कैसे पाया जाए? इन सब प्रश्नों का हल एक ही स्थल पर हो सकता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, किसी और स्थान का अवलोकन करने की भी आवश्यकता नहीं है। किन्तु जहां यह प्रश्न उठ रहा है वहीं प्रश्नकर्ता स्वयं को देख लेता है तो उसकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है। परन्तु प्रश्नकर्ता स्वयं के स्वरूप को नहीं देख पा रहा है। जहां से प्रश्न का आविर्भाव हो रहा है, उस भूमिका के यदि दर्शन कर लिए जाएं तो परमात्मा कहां है ? आत्मा कहां है ? इन दोनों प्रश्नों का हल एक साथ ही हो जायेगा।

३१ कर्मों का आत्मा से संबंध

आत्मा के सर्वोत्तम प्रदेशों से कर्म–वर्गणाएं संबद्ध होती हैं, चाहे शभ कर्मों का बन्धन हो या अशुभ कर्मों का, बन्धन सर्वोत्तम प्रदेशों से होगा। जिस प्रकार उबलते तेल के मध्य में बड़ा डाल दिया जाता है तो वह अपने सभी छिद्रों से तेल को ग्रहण करता रहता है। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र संबंधित कर्म–वर्गणाओं को एक साथ सर्वात्म प्रदेशों से ग्रहण करती रहती है।

जीव के साथ संबद्ध होकर वे जड़ कर्म–वर्गणाएं भी सजीव कहलाने लगती हैं।

इन कर्मों का विभागीकरण मुख्यतः चार प्रकार से होता है– प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध।

कर्मों के अपने–अपने स्वभाव को प्रकृति बंध, उनकी नियत समय तक फल देने की शक्ति को स्थिति बंध, उस फल में आने वाली रस की तीव्रता–मंदता को अनुभाग बंध तथा कर्म दलिकों को प्रदेश बंध कहते हैं।

स्वभावः प्रकृति प्रोक्तः स्थिति कलावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयोः प्रदेशी दल संचयः।।

जैन दर्शन में कर्म–सिद्धांत की व्याख्या बहुत गहन, गम्भीर एवं साइंटिफिक तरीके से प्रतिपादित है। ऐसी व्याख्या अन्य दर्शनों में नहीं मिलती। अन्य दर्शनों में प्रारब्ध, माया, प्रकृति, वासना आदि शब्दांतर से कुछ व्याख्या

इसी प्रकार देह–पिण्ड में भी उत्पाद–व्यय चलता रहता है। पुराने परमाणुओं का विसर्जन एवं नये परमाणुओं का सृजन होता रहता है। वृद्धावस्था तत्क्षण नहीं आती, किन्तु निरन्तर पौद्गलिक परमाणुओं के परिवर्तन से आती है। यह परिवर्तन शीघ्रता से बोधगम्य नहीं होने से मानव वस्तु का यथार्थ बोध नहीं कर पाता।

४०. पौद्गलिक परिवर्तन

पुद्गलों का परिवर्तन सशक्त से सशक्त पदार्थ को भी जीर्ण–शीर्ण कर डालता है। आपने वज्ररत्न का नाम सुना होगा। वह इतना सशक्त होता है कि उसके ऊपर कितना ही लोहा डाल दिया जाए, किन्तु उसकी एक नोक तक नहीं टूटती। ऐसे वज्ररत्न में भी हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। समय के परिपाक से वह वज्ररत्न भी इतना जीर्ण हो जाता है कि पांच वर्ष का बालक भी उसे हाथ में लेकर मिट्टी के ढेले की तरह मसल सकता है।

कोई भी वस्तु सदा–सर्वदा के लिए उत्पाद–व्यय से रहित मात्र ध्रौव्यत्व रूप में रहने वाली नहीं है। जड़–पदार्थ में उत्पाद–व्यय होते हुए भी वे जड़ की अपेक्षा ध्रुव होते हैं। कितना भी परिवर्तन हो जाए, किन्तु जड़ कभी चैतन्य नहीं होता। इसी प्रकार चैतन्य भी उत्पाद–व्यय स्वभाव वाला होते हुए भी चैतन्यत्व का अपेक्षा ध्रुव है। जड़त्व की अपेक्षा चैतन्यत्व में अनिर्वचनीय अवस्थाएं पाई जाती हैं। जड़ को सद्द्रव्य के रूप में कहा जा सकता है पर चैतन्यत्व में सत् के साथ–साथ ज्ञान एवं वास्तविक आनन्द की अवस्थाएं भी रही हुई हैं। संक्षेप में जड़ और चैतन्य में यही मौलिक अन्तर है।

पुद्गलों के परिवर्तन से मृदु शब्द भी कठोर और कठोर शब्द भी मृदु हो जाता है। पुद्गलों के परिवर्तन से रूपवान कुरूप और कुरूप रूपवान बन जाता है। पुद्गलों के परिवर्तन से ही खट्टा रस मीठा और मीठा रस खट्टा बन जाता है। पुद्गलों का परिवर्तन ही सुगंध को दुर्गंध के रूप में और दुर्गंध को सुगंध के रूप में बदल सकता है। पुद्गलों का परिवर्तन ही खुरदरे स्पर्श को सुहावना और सुहावने स्पर्श को खुरदरा बना सकता है। पौद्गलिक परिर्वन ही संसार की विविध विचित्रता का मूल हेतु है। पुद्गलों पर आसक्त होकर आनन्द मनाने वाला व्यक्ति कभी भी शाश्वत सुख की अनुभूति नहीं कर सकता।

४३. क्रिया की प्रवृत्ति शुभ में या अशुभ में ?

मन, वचन और कायारूप योगों के द्वारा क्रिया की प्रवृत्ति शुभ कार्य में भी हो सकती है तो अशुभ में भी। हिंसात्मक कार्य में भी हो सकती है तो अहिंसात्मक कार्य में भी। जिस प्रकार सुई को सीने के काम में लिया जा सकता है, तो उसे किसी को चुभाया भी जा सकता है। कांटे से कांटा निकाला भी जा सकता है तो कांटे को शरीर में गड़ाया भी जा सकता है। इसी प्रकार त्रियोग से युक्त क्रिया के द्वारा आत्मा पर स्थित कर्मों की परतों को हटाया भी जा सकता है, तो उन्हीं त्रियोगों से सम्बन्धित क्रियाओं के शुभाचरण से आत्मा को कर्मों से मलीमस भी बनाया जा सकता है। मन, वचन, कायरूप क्रियाओं की प्रवृत्ति को किस प्रकार गतिशील करना चाहिए, इसका विवेक व्यक्ति को होना आवश्यक है। जब तक वह इस विवेक से अनभिज्ञ रहेगा तब तक आत्मा का मौलिक स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है–

जोग–सच्चेणं जोगं विसोहेइ

योग–सत्य से जीव मन, वचन, काय की क्रिया को विशुद्ध करता है। यह विशुद्धि योग समीक्षण से संबंधित है।

४४. कर्ता के तीन रूप

कर्ता से क्या अर्थ लिया जाय ? क्या जिस क्रिया का जो कर्ता है, वह ही यथार्थ में उस क्रिया का कर्ता है या करवाने वाला एवं उस क्रिया का अनुमोदन करने वाला उसका कर्ता है ?

जिस प्रकार इंजन चलाने वाला व्यक्ति एक होता है किन्तु उसे चलाने में गार्ड तथा कोयला डालने वाले आदि अनेक व्यक्ति सहायक होते हैं। उस गाड़ी में बैठने वाले व्यक्ति भी उसे चलाने में सहायक होते हैं। यदि गाड़ी नहीं चलती है तो यात्रियों के मन में यह भावना आती है कि जल्दी से गाड़ी चले, जिससे गंतव्य तक शीघ्र पहुंच जाएं। यह गाड़ी चलाने में अनुमोदन है। अतः गाड़ी को चलाने वाला भी कर्ता है, गाड़ी को चलाने में सहयोग करने वाले भी उसके कर्ता हैं और उसके अनुमोदक भी उसके कर्ता हैं।

इसी प्रकार भोजन अथवा व्यापार में होने वाली हिंसा को करने वाले उस पापकर्म के कर्ता के रूप में हैं, उस हिंसा को करवाने वाले भी हिंसा करवाने वाले कर्ता के रूप में हैं और उस हिंसा का अनुमोदन करने वाले, अनुमोदनकर्ता

है। परमात्मा की शक्ति से उसकी शक्ति किंचित् भी कम नहीं है। जिस तत्त्व में ऐसी विराट शक्ति रही हुई है, उसके लिए तुच्छ भौतिक पदार्थों की लालसा कोई महत्त्व नहीं रखती। क्या सूर्य अपने प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए मिट्टी के ढेलों की अपेक्षा रखता है ? क्या कभी वह पहाड़ों, चट्टानों या पृथ्वीतल की अन्य चीजों की आशा या अपेक्षा रखता है ? हर कोई जानता है कि सूर्य को इनकी अपेक्षा नहीं रहती। इसी तरह भव्य जनों को यह विश्वास होता है कि उनकी आत्मा सूर्य के प्रकाश से भी अधिक प्रकाश का पुंज है। वह सूर्य से अधिक देदीप्यमान है। सूर्य का प्रकाश नियत क्षेत्र और नियत काल की परिधि में सीमित होता है। समग्र लोक को वह प्रकाशित नहीं कर सकता। मध्यलोक के अमुक–अमुक क्षेत्र को ही वह आलोकित करता है लेकिन आत्मा की ज्ञान–रश्मियां न केवल मध्यलोक को, अपितु ऊर्ध्वलोक और अधोलोक को भी आलोकित करती हैं। वे तीनों लोकों के समग्र स्वरूप को प्रकाशित करने वाली हैं। लोक ही नहीं, लोक के समान असंख्य या अनन्त लोक यदि अलोक में भी हों तो उनको भी प्रकाशित करने की शक्ति–जानने की शक्ति आत्मा में है। इतनी विराट शक्ति का स्वामी यह चेतन तत्त्व है। ऐसा विराट चेतन–तत्त्व भौतिक सारहीन पदार्थों की आशा करे, यह कितना हास्यासपद है। उस आत्मशक्ति को जाग्रत् करने के लिए अध्यात्म साधना आवश्यक है।

१३८. विश्वास फलदायक

आपको अपनी अनन्त शक्तियों पर दृढ़ विश्वास हो जाए तो निस्संदेह आप अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है–दृढ़ आस्था, अडोल विश्वास और प्रबल संकल्प। संस्कृत की एक सूक्ति है–विश्वासो फलदायकः।

विश्वास फलदायक होता है। विश्वास के अभाव में व्यक्ति किसी भी सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता। विश्वास को लेकर चलने वाला व्यक्ति ही सफलता के शिखर पर पहुंचता है। अपनी आत्मा की विराट शक्ति के विश्वास का संबल लेकर यदि आप साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे तो निस्संदेह आप अपनी छिपी हुई, दबी हुई शक्ति को प्रकट करने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

१३९. शिलाओं का भार बनाम कर्मों का भार

मैं आपसे एक सीधा–सा प्रश्न करूं कि यदि कोई व्यक्ति किसी

वह उधार का धंधा है। यदि प्रत्यक्ष में उसका परिणाम प्राप्त नहीं होता तो उसके प्रति मानव का मस्तिष्क अभिप्रेरित नहीं होता। यह धारणा सही नहीं है कि साधनाओं का फल परलोक में ही मिलने वाला है। साधना उधार का धंधा नहीं है। वह नगद का व्यापार है। जितनी–जितनी और जिस–जिस रूप में साधना की जाती है, उसका फल भी उतने ही अंशों में प्राप्त होता है। जिस रूप में साधना की आराधना होती है उस रूप में उसका परिणाम भी यहां परिलक्षित होता है। साधना का सुफल भी यहां प्राप्त होता है और भवांतर में भी उसकी परम्परा भव्य फलप्रदायिनी बनती है। जिसने साधना के द्वारा इस जीवन को रमणीय बनाया, वह भवान्तर में भी रमणीयता को प्राप्त करेगा। तीर्थंकर देवों ने आत्मा के विकास के चौदह सोपान बताये हैं, जिन्हें आगम की भाषा में गुणस्थान कहते हैं। आत्मा अपने लक्ष्य की ओर ज्यों–ज्यों आगे बढ़ती जाती है त्यों–त्यों उसकी साधना के सुफल का प्रत्यक्ष में अनुभव होता जाता है। तेरहवें गुणस्थान में जब वह पहुंचती है तो उसे अनन्त–ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल–वीर्य और अनन्त चारित्र की प्राप्ति होती है। चौहदवां गुणस्थान आत्मा की सर्वोत्कृष्ट विकसित अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्मस्वरूप बन जाती है, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है। साधना का यह सुफल प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इस मानव–शरीर से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है। अनन्त आत्माओं ने अतीत काल में इस मानव–भव से परम पद की प्राप्ति की है, वर्तमान में भी विदेहादि क्षेत्रों में कर रही हैं और अनागत काल में भी परमपद प्राप्त करेंगी। अतः यह कहा जा सकता है कि साधना की आराधना उधार का धंधा नहीं, अपितु नगद का व्यापार है।

५३ वैज्ञानिक मार्ग

यह भलीभांति सिद्ध है कि आत्मा की समग्र उपलब्धियां मानव–भव में ही प्राप्त होती हैं। इसके छूट जाने के पश्चात् आत्मा का अवस्थान मात्र रहता है। वहां कोई नवीन उपलब्धि नहीं होती। इसलिये मानव–भव में प्राप्त अध्यात्म मार्ग को वैज्ञानिक मार्ग की संज्ञा दी गयी है। वैज्ञानिक मार्ग का तात्पर्य भौतिक विज्ञान का मार्ग नहीं है। लेकिन भौतिक विज्ञान की प्रयोगशालाओं में जैसे उपलब्धि प्रत्यक्ष की जाती है वैसे ही आध्यात्मिक जीवन की प्रयोगशाला में जो–कुछ भी आंतरिक उपलब्धियां साधक को प्राप्त होती हैं, उनको वह सार्थक रूप में देखता हुआ चला जाता है। भौतिक विज्ञान की उपलब्धियां बाह्य होती